क्रिया-योग-साधना

देवदत्त शास्त्री

प्रथम पाद

क्रियायोग

योग-साधना में सिद्धि प्राप्त करने के लिए चित्त को स्वस्थ और समाहित बनाने की प्रथम आवश्यकता है, चित्त वृत्तियों को निरुद्ध करना, नियंत्रित करना, उन्हें अन्तर्मुखी बनाना ही योग है। योग-साधना का प्रमुख उपाय वैराग्य और अभ्यास है। वैराग्य का तात्पर्य कपड़े रङ्ग कर दण्ड-कमण्डल धारण कर घर, परिवार का परित्याग नहीं है। तृष्णा, आसक्ति, इच्छाओं, कामनाओं से रहित होकर निर्द्वन्द्व जीवन का नाम वैराग्य है। राग-द्वेष, ईर्ष्या, अहङ्कार, छल, कपट-रहित हृदय वैराग्य की साधना में सहायक होता है। आसक्ति और इच्छाओं से, काम, क्रोध, मद, लोभ से रहित होना सम्भव नहीं है, इनको नष्ट करने के लिए निरन्तर जो प्रयास किया जाता है, वह अभ्यास है।

जिनका मन चञ्चल है, जो विक्षिप्त चित्त होते हैं, जिनका चित्त सांसारिक वासनाओं तथा राग-द्वेष से मलिन रहता है, उनके लिए अभ्यास और वैराग्य की सम्प्राप्ति कठिन है। ऐसे विकारयुक्त चित्त और मन वाले व्यक्तियों के चित्त और मन को शुद्ध, पवित्र, निर्मल बनाकर अभ्यास और वैराग्य की ओर जो प्रवृत्त करता है और चित्त को एकाग्र और समाहित बनाता है, उस उपाय का नाम है **क्रियायोग।**

किसी भी प्रकार की योग-साधना, तंत्र-साधना, अध्यात्म-साधना में चित्त की विशुद्धता पहली सीढ़ी है। पतञ्जलि मुनि ने चित्त की शुद्धि का सरल और उपयोगी उपाय **क्रियायोग** बताया है।

क्रियायोग है क्या चीज? उसका स्वरूप क्या है, उसकी साधना के उपाय क्या हैं? इस जिज्ञासा का समाधान योगसूत्र में मिलता है—

तपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान क्रियायोग है। अब फिर प्रश्न उठता है कि तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान का क्या स्वरूप है, इनको किस प्रकार जाना जा सकता है, कैसे इनका अभ्यास किया जा सकता है? इसका समाधान इस प्रकार है—

तप—शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियों को वश में करने वाला अभ्यास या उपाय तप है। जैसे अश्व-विद्या में निपुण कुशल सारथि रथ में जुते हुए चञ्चल घोड़ों को अपने वश में रखता है, उन्हें साधता है, उसी प्रकार चंचल चित्तवृत्तियों को समुचित ढङ्ग से और अभ्यास से वशीभूत करने को तप कहते हैं। तप इसलिए किया जाता है कि साधना में कोई विक्षेप न पड़े। शीत, वात, आतप का प्रभाव शरीर पर न पड़े, मन, चित्त, अन्तःकरण निर्मल बनकर साधना में सहायक बन सकें। यदि शरीर व्याधिग्रस्त है, मन आधिग्रस्त है, इन्द्रियाँ विकारयुक्त हैं, चित्त भ्रान्त है, विक्षिप्त है तो साधना निरर्थक बन जाती है, हानिकर सिद्ध होती है। इसलिए साधना को सिद्धि के द्वार तक पहुँचाने के लिए तप की आवश्यकता पड़ती है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि वासनाओं से लिपटा हुआ रजोगुण और तमोगुण का प्रसार अनादिकाल से चला आ रहा है, इसे केवल तप द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। इसलिए क्रियायोग का पहला अङ्ग तप बतलाकर उसकी साधना का उपदेश दिया गया है।

'तप' का साधारण अर्थ है तपाना। जैसे—सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुओं को आग में तपाने से उनका मल भस्म हो जाता है और धातु का शुद्ध, निर्मल रूप निखर जाता है, वह स्वच्छ और चमकीला हो जाता है। इसी प्रकार साधक जब 'तप' की अग्नि में अपने को तपाता है, तो उसके शरीर, मन, वाणी और अन्तःकरण का मल दूर हो जाता है। इन्द्रियों के तमोगुणी आवरण का क्षय हो जाता है और साधक सात्त्विक प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है।

तप ऐसा किया जाना चाहिए कि शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा न हो, कोई रोग न हो, चित्त प्रसन्न रहे। यदि शरीर में थकावट या दर्द हुआ तो

साधना में विघ्न पड़ जाता है, यदि चित्त प्रसन्न न हुआ तो अप्रसन्नता या विक्षिप्तता विघ्न बन जाती है। तप के साधनों, उपायों का यदि वर्गीकरण किया जाये, तो ये चार प्रकार के होते हैं—

1. शरीर का तप—सात्त्विक आहार-विहार आदि शरीर के तप है। साधना का खान-पान, सोना, जागना, क्रिया-कलाप नियमित और संयमित होना चाहिए। स्निग्ध, मधुर, रुचिकर भोजन करना चाहिए, जितनी भूख हो, उससे चौथाई भोजन करना चाहिए। इस तरह का आहार मिताहार कहलाता है। खट्टा, चटपटा, कड़वा अत्यन्त गर्म, अत्यन्त ठण्डा, बासी, रूखा-सूखा, सड़ा, गन्दा, जूठा, मादक, उत्तेजक भोजन शरीर को रोगी बनाता है, इस प्रकार का आहार साधक के लिए वर्जित है। दूध, घी, मलाई, रसदार मधुर फल, बादाम, मुनक्का, अंजीर जैसे मेवे लौकी, परवल, तुरई, सोवा, पालक, चौलाई, धनिया, मेथी जैसी हरी सब्जियाँ और जौ, गेहूँ, मूँग, चावल जैसे सात्त्विक अनाज का सेवन करना चाहिए। भूख रखकर नियमित समय में भोजन करना चाहिए। भूख लगने पर पेट का दो भाग अन्न से एक भाग पानी से भरना चाहिए और एक भाग खाली छोड़ देना चाहिए, जिससे वायु का संचार होता रहे। दिन में भोजन करे, रात में सोते समय स्वल्प मात्रा में दूध, फल आदि खाना चाहिए।

साधक के लिए यह अनिवार्य है कि वह आहार को शुद्ध रखे कदन्न, कुधान्य न खाए। शुद्ध, सात्विक कमाई से अर्जित वस्तुओं को ग्रहण करे। जिह्वा की लोलुपता का त्याग करे। जैसा अन्न खाया जाता है, वैसा ही मन बनता है। मन को पवित्र और सात्विक बनाए रखने के लिए पवित्र और सात्विक आहार करना चाहिए। स्वाद को वश में करके, शरीर से आसक्ति और मोह को त्याग करके साधक केवल शरीर को साधना कर्म में उपयोगी बनाने के लिए भोजन किया करता है और जो साधक नहीं है, वे स्वाद के वशीभूत होकर आसक्ति और ममता के साथ पदार्थों के भोग में लिप्त रहते हैं। योगी और भोगी में यही अन्तर होता है।

आहार के बाद बिहार शारीरिक तप है। साधक को चाहिए कि वह न तो निरन्तर लम्बी यात्राएँ करे और न एक जगह स्थिर होकर बैठ जाये। इससे तमोगुण बढ़ता है, आलस्य और प्रमाद उत्पन्न होता है। साधना में विघ्न

पड़ता है। साधक को चाहिए कि वह इतना चले फिरे घूमे जिससे शरीर स्वस्थ रहे, चित्त प्रसन्न रहे और साधना का क्रम भङ्ग न हो।

नियमित रूप से कर्त्तव्य कर्म करते रहने का नाम 'युक्त कर्म चेष्टा' है। यह युक्त कर्म चेष्टा शरीर तप माना गया है। नियमित रूप से कर्त्तव्य तथा सत्कर्म करते रहना चाहिए। न तो इतना अधिक परिश्रम करे कि शरीर में थकावट पैदा हो जाए और न कर्त्तव्यहीन, कर्महीन आलसी ही बनना चाहिए।

सोना और जागना भी शरीर-तप के अन्तर्गत है। साधक को चाहिए कि वह रात में सात घण्टे से अधिक न सोये और न चार घण्टे से कम सोये। आलस्य, नींद साधना की बाधाएँ हैं, इनको दूर रखने के लिए नियत समय पर और नियत समय तक सोना चाहिए। सोने और जागने में व्यतिक्रम न पैदा होने पाये।

आहार-विहार और युक्त कर्म चेष्टा के सन्दर्भ में साधक को यह ध्यान रखना चाहिए कि निराहार, निर्जल व्रत न करे और न चान्द्रायण व्रत जैसे दीर्घकालिक व्रत, उपवास करे। हाँ, सप्ताह में एक दिन का उपवास श्रेयस्कर होता है। इससे शारीरिक, मानसिक विकार दूर होते हैं।

2. वाणी का तप—वाणी को संयम में रखना। वाणी का तप है। सत्य और प्रिय वचन बोलना। पेट में कीचड़ पालकर मुख से वचन के कमल न खिलाना, आन्तरिक मनोभावों को स्पष्ट रूप से वाणी द्वारा प्रकट करना। जीवन को खुली हुई किताब के समान रखना कि चाहे कोई भी पढ़ सके। जो मन में सोचे वही वाणी द्वारा प्रकट कर देना वाणी का तप है। वाणी का संयम रखने के लिए मौन व्रत ग्रहण करना मौनी बाबा बन जाना मिथ्या-चार है। हाँ वाणी को संयम शील बनाने का प्रयास करते हुए सप्ताह में एक दिन मौन व्रत रखना श्रेयस्कर है।

3. मनका तप—मन को संयम में रखना, निश्चय बनाना मन का तप है। अपवित्र, विचारों को हटाकर पवित्र विचारों को धारण करना, सङ्कल्प-विकल्प से मन को रहित बनाना मन का तप है।

4. अन्तःकरण का तप—अन्तःकरण को सद्भाव, सद्भावना, सद्विचार, सत्सङ्ग, सदाचार, सद्विवेक, सत्कर्म द्वारा पवित्र और विशुद्ध बनाना अन्तःकरण का तप है।

क्रियायोग के प्रथम साधन तप के चार पादों का संक्षिप्त परिचय देने के बाद अब हम क्रियायोग के दूसरे साधन स्वाध्याय की व्याख्या करते हैं—

स्वाध्याय—स्थूल रूप से सद्ग्रंथों को पढ़ना स्वाध्याय है। विवेक, सद्बुद्धि उत्पन्न करने वाले ग्रंथों का नियमित अध्ययन साधक के लिए उपयोगी माना गया है। किन्तु मैं अपने अनुभव की एक बात कहना चाहता हूँ। एक परमसिद्ध योगी ने मुझे गायत्री मंत्र का जप करना ही स्वाध्याय बताया था। सम्भव है, निर्जन वन, पर्वत में मठ, आश्रम, कुटी रहित स्थान में निवास करते हुए शास्त्रों, ग्रन्थों का अध्ययन चिन्तन सम्भव न हो सकने के कारण मुझे गायत्री मंत्र का जप करने के लिए उन्होंने कहा हो, किन्तु इतना तो सत्य है कि गायत्री-जप क्रियायोग की सिद्धि में परम सहायक है।

मैंने गायत्री मंत्र का जप कैसे किया है, यह भी जिज्ञासु साधकों को बता देना आवश्यक है। विनियोगपूर्वक पहले गायत्री-कवच का जप करता था, तत्पश्चात् तीन मात्राओं वाले ओङ्कार का, तीन महाव्याहृतियों का और गायत्री के तीन पादों का संयम पूर्वक अर्थानुसन्धान करते हुए जप करता था।

उन महापुरुष ने मुझे उपदिष्ट किया था कि तीन मात्रा वाले ओङ्कारपूर्वक तीन महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री को ब्रह्म का मुख (द्वार) समझना चाहिए।

गायत्री मंत्र

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियोयोनः प्रचोदयात्।

ॐ की तीन मात्राएँ—अकार, उकार, मकार और चौथा अमात्र-विराम।

अकार—एक मात्रा वाले विराट् परमात्मा का नाम है। यह एक मात्रा वाला विराट् परमात्मा 'अकार' पाँचों स्थूल भूतों (तत्त्वों) और उनसे बने हुए पदार्थों को आत्मा की उन्नति में बाधक होने से हटाकर साधक बनाने वाला अपने विराट् रूप के साथ स्थूल जगत् के ऐश्वर्य का उपभोग कराता है। यह स्थूल जगत् से सम्बन्धित रहता है।

उकार—दो मात्रा वाले हिरण्य गर्भ परमात्मा का नाम 'उकार' है, जिसका सम्बन्ध सूक्ष्म जगत् से रहता है। यह उकार पाँचों स्थूल, सूक्ष्म भूतों और अहङ्कार आदि को आत्मोन्नति में बाधक होने के कारण हटाकर साधक

बनाने वाला, अपने हिरण्यगर्भ रूप के साथ सूक्ष्म जगत् में ऐश्वर्य का उपभोग कराने वाला है।

मकार—तीनों मात्रा वाले ईश्वर जो कारण जगत् के सम्बन्ध से हटाकर साधक बनाने वाला अपने अपरस्वरूप के साथ कारण जगत् के ऐश्वर्य का उपभोग कराता है।

अमात्रविराम—परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति अमात्रविराम है।

महाव्याहृतियाँ तीन हैं—भूः भुवः स्वः इनका शाब्दबोध, अर्थतत्त्व इस प्रकार समझा जाना चाहिए—

भूः—यह व्याहृति सारे ब्रह्माण्ड को जीवन देनेवाली है। तात्पर्य यह कि ईश्वर प्राणिमात्र का प्राणाधार और पृथ्वीलोक का नियन्ता 'भूः' है। यह ब्रह्माण्ड का प्राणरूप है।

भुवः—यह सारे ब्रह्माण्ड का अपान रूप (पालक, पोषक) ईश्वर है जो समस्त प्राणियों को त्रयताप से मुक्त कराता है और अन्तरिक्ष लोक का नियन्ता है।

स्वः—यह सारे ब्रह्माण्ड का व्यान रूप (व्यापक) ईश्वर है, जो समस्त चराचर को सुख और ज्ञान देता है। यह द्युलोक का नियन्ता है।

गायत्री के तीन पाद

1. तत्ववितुर्वरेण्यम्
2. भर्गोदेवस्य धीमहि
3. धियो यो नः प्रचोदयात्

अन्वयार्थ

सवितुः	समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाले
देवस्य	ज्ञान रूप प्रकाश को देनेवाले देव को
तत्	उस
वरेण्यं	वरण करने योग्य अर्थात् उपासना करने योग्य
भर्गः	तेज का अर्थात् शुद्ध रूप का
धीमहि	हम ध्यान करते हैं
यः	जो (सविता देव)

नः हमारी
धियः बुद्धियों को
प्रचोदयात् सत्कर्मों में प्रयुक्त करे।

भावार्थ—समस्त चराचर प्राणियों के परम पिता-माता ज्ञान रूप प्रकाश को देने वाले देव के उस तेज (शुद्ध स्वरूप) का हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियों को सत्कर्म में प्रवृत्त करे।

गायत्री मंत्र द्वारा बुद्धि अथवा चित्त की पवित्रता के लिए परमात्मा-से प्रार्थना की गई है। यहाँ इतना स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण का प्रथम विषम परिणाम महतत्त्व है। इसे बुद्धि और चित्त कहते हैं। इसी महतत्त्व (बुद्धि और चित्त) से सत्-असत्, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय किया जाता है। इसी में जन्म, आयु और भोग देने वाले सारे संस्कार रहते हैं। इसके पवित्र होने से जन्म, आयु और भोग से छुटकारा मिल जाता है। संस्कारों की निवृत्ति हो जाती है और सन्मार्ग की प्राप्ति होती है।

इसी अर्थतत्त्व को हृदयङ्गम करके मैंने निम्नाङ्कित पद्धति से गायत्री जप किया था—

विनियोगः—अस्य गायत्री कवचस्तोत्रमन्त्रस्य परब्रह्मऋषिः गायत्री-छन्दो, ब्रह्मणो देवता धर्मार्थकाममोक्षार्थे जपेविनियोगः।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ भूः	ॐ ॐ ॐ व	ॐ ॐ ॐ म
ॐ ॐ ॐ भु	ॐ ॐ ॐ रे	ॐ ॐ ॐ हि
ॐ ॐ ॐ वः	ॐ ॐ ॐ ण्यं	ॐ ॐ ॐ धि
ॐ ॐ ॐ सु	ॐ ॐ ॐ भर्	ॐ ॐ ॐ यो
ॐ ॐ ॐ वः	ॐ ॐ ॐ गो	ॐ ॐ ॐ यो
ॐ ॐ ॐ तत्	ॐ ॐ ॐ दे	ॐ ॐ ॐ नः
ॐ ॐ ॐ स	ॐ ॐ ॐ ब	ॐ ॐ ॐ प्र
ॐ ॐ ॐ वि	ॐ ॐ ॐ स्य	ॐ ॐ ॐ चो
ॐ ॐ ॐ तुर्	ॐ ॐ ॐ धी	ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ द
		ॐ ॐ ॐ यात्

आवाहन

ॐ आयाहिवरदेवि, त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि।
गायत्री छन्दसां मातर्ब्रह्मयोनि नमोऽस्तुते।।

इसके बाद ओङ्कारपूर्वक तीनों महाव्याहृतियों के साथ गायत्री के तीनों पादों में तीन ॐ संयुक्त कर मैं नित्य गायत्री का जप करता था।

जप के बाद ऋग्वीज मिश्रित सरस्वती दशश्लोकी महा मंत्र का स्तवन और जप किया करता था। उसका विधान इस प्रकार है—

विनियोग—अस्य श्री सरस्वती दशश्लोकी महामंत्रस्य आश्वलायन ऋषिः अनुष्टुप् छन्दः श्री वागेश्वरी देवता यद्वाग् मंत्रो बीजं देवी वाचमु मंत्रः शक्तिः प्रणो देवी मंत्रः कीलकं सरस्वती प्रीत्यर्थे जपेपाठे च विनियोगः।

विनियोग के बाद

श्रद्धा
मेधा
प्रज्ञा
धारणा
वाग्देवता
महा सरस्वती

इनसे अङ्गन्यास करके मैं निम्नाङ्कित स्तुति से प्रणाम करता था—

नामरूपात्मकं सर्वं यस्यामावेश्य तां पुनः।
ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका सा माम् पातु सरस्वती।

तदनन्तर ध्यानम्

नीहारहारघनसारसुधाकराभाम्,
कल्याणदां कनकचम्पकदामभूषाम्।
उत्तुङ्गपीनकुचकुम्भ मनोहराङ्गीं,
वाणीं नमामि मनसा वचसा विभूत्यै।।

तदनन्तर महामंत्र का पाठ करता था।

महा मंत्र

या वेदान्तार्थ तत्त्वैकस्वरूपा परमार्थतः।
नामरूपात्मना व्यक्ता सा माम् पातु सरस्वती॥

बीज मंत्र

ॐ प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
धीनामवित्र्यवतु॥

(2)

या साङ्गोपाङ्गवेदेषु चतुर्ष्वेकैव गीयते।
अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा माम् पातु सरस्वती।

बीज मंत्र

ह्रीं आ नो दिवो वृहतः पर्वतादा।
सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम्॥
हवं देवी जुजुषाणा घृताची।
शग्मां नो वाचमुशती श्रृणोतु॥

(3)

या वर्णपदवाक्यार्थस्वरूपेणैव वर्तते।
अनादिनिधनानन्ता सा माम् पातुसरस्वती॥

बीज मंत्र

श्रीं पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनवती।
यज्ञं वष्टुधिया वसुः॥

(4)

अध्यात्माधिदैवञ्च देवानां सम्यगीश्वरी।
प्रत्यगास्ते वदन्ती या सा माम् पातुसरस्वती॥

बीज मंत्र

ब्लूं चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती॥

(5)

अन्तर्याम्यात्मना विश्वं, त्रैलोक्यं या नियच्छति,
रुद्रादित्यादिरूपस्था, यस्यामावेश्य तां पुनः।
ध्यायन्ति सर्वरूपैका, सा माम् पातु सरस्वती।

बीज मंत्र

सौः महो अर्णः सरस्वती प्रचोदयति केतुना।
धियो विश्वा विराजति।।

(6)

या प्रत्यग्दृष्टिभिर्जीवैर्व्यज्यमानानुभूयते।
व्यापिनी ज्ञप्ति रूपैका सा माम् पातु सरस्वती।।

बीज मंत्र

ऐं चत्वारिवाक्परिमिता पदानि तानि—
विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति।

(7)

नामजात्यादिभिर्भेदैरष्टधा या विकल्पिता।
निर्विकल्पात्मना व्यक्ता सा माम् पातु सरस्वती।।

बीज मंत्र

क्लीं यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानिराष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्राः।
चतस्त्रं उर्ज्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्थाः परमं जगाम।।

(8)

व्यक्ताव्यक्तगिरः सर्वे वेदाद्याव्याहरन्ति याम्।
सर्वकामधेनुः सा माम् पातु सरस्वती।।

बीज मंत्र

सोः देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवोवदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्ज दुहाना।
धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु।।

(9)

यां विदित्वाखिलं बन्धं निर्मथ्याखिलवर्त्मना।
योगी याति परं स्थानं सा माम् पातु सरस्वती॥

बीज मंत्र

तं उतत्त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः।
शृण्वन्न शृणोत्येनां। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्युः उशती सुवासाः॥

(10)

नामरूपात्मकं सर्वं, यस्यामावेश्य तां पुनः।
ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका, सा माम् पातु सरस्वती॥

बीज मंत्र

ऐमम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्बनस्कृधि॥

परम गुरु श्री स्वामी जी ने कहा था कि गायत्री जप के साथ सरस्वती कवच और ऋग्वीज सहित दस श्लोक सरस्वती महा मंत्र का जप करने से साधना शीघ्र फलवती होती है। गुप्त शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। गायत्री जन्म-जन्मान्तर के पापों का शोधन करती है।

क्रिया योग का तीसरा साधन ईश्वर प्राणिधान है। ईश्वर प्राणिधान का तात्पर्य है सम्पूर्ण भाव से अपना सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर देना।

ईश्वर प्रणिधान—ईश्वर प्राणिधान का सामान्य अर्थ है, भगवान् की उपासना भक्ति। शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सभी साधनों और उनसे होने वाले कर्मों तथा उनके फलों को ईश्वर को समर्पित कर देना।

यहाँ पर ईश्वर और प्राणिधान दो शब्द हैं। जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ईश्वर क्या है? और प्राणिधान क्या है? इसका समाधान योग-सूत्र में बहुत ही सहज ढङ्ग से किया गया है—**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषईश्वरः।**

क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और वासनाओं से असम्पृक्त अन्य पुरुषों से भिन्न विशिष्ट, उत्कृष्ट चेतना ईश्वर है। ईश्वर का अर्थ है ईशनशील अर्थात्

इच्छा मात्र से, सङ्कल्प मात्र से सम्पूर्ण जगत् का उद्धार करने में समर्थ। ईश्वर में नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा और नित्य क्रिया रहती है। न उसका कोई रूप है, न कोई देह है, न इन्द्रियाँ हैं, न उसके समान कोई है, न उससे कोई बड़ा है, उसकी उत्कृष्ट शक्ति अनादि काल से सुनी जाती है और उसके ज्ञान बल और क्रिया ये तीनों स्वाभाविक और नित्य हैं।

वह ईश्वर काल की सीमा से परे गुरुओं का गुरु है। उसकी उपासना गुरुओं के गुरु की भावना से करनी चाहिए। गुरु ब्रह्मा के समान है, गुरु विष्णु के समान है, गुरु शिव के समान है, गुरु साक्षात् ब्रह्म है। ईश्वर इस निरुपण के बाद एक जिज्ञासा फिर उत्पन्न होती है कि उस अनादि, अनन्त अनिर्वचनीय, विभु, व्यापक परमात्मा का वाचक कौन, किससे ईश्वर का बोध किया जा सकता है, इसके समाधान में पातज्जल योग सूत्र कहता है—

तस्य वाचकः प्रणवः

उस ईश्वर का वाचक—बोधक ॐ है। गीता में भी कहा गया है कि **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ॐ** सह एकाक्षर ब्रह्म है। योग सूत्रकार ने ॐ की जगह प्रणव शब्द का व्यवहार किया है। प्रणव का अर्थ ॐ ही होता है किन्तु यहाँ पर प्रणव सार्थक शब्द है, भाव विशेष का बोधक है। प्रणव की व्याख्या करते हुए भोजवृत्तिकार ने लिखा है—

प्रकर्षेण नूयते स्तूयते अनेन इति नौति, स्तौतीति वा प्रणवः ओङ्कारः

जिसके द्वारा नम्रता से स्तुति की जाए अथवा भक्त जिसकी स्तुति उत्तमता से करता है वह प्रणव है।

यहाँ पर ॐ और ईश्वर का वाच्य-वाचक भाव सिद्ध किया है। तात्पर्य यह कि निरतिशय ज्ञान-क्रिया की शक्ति रूप ऐश्वर्य वाला व्यापक ईश्वर वाच्य है और ॐ वाचक है माण्डूक्यकारिका का कहना है कि यह सब उसकी व्याख्या है और जो कुछ तीनों कालों से ऊपर है, वह भी ओङ्कार है। वह यह आत्मा अक्षर दृष्टि से मात्राओं वाला ओङ्कार है। पाद ही मात्रा है, मात्रा ही पाद है। वे मात्राएँ आकार, उकार और मकार है। चौथा पाद मात्रा रहित है, उसमें कोई व्यवहार नहीं है। उसमें कोई प्रपञ्च नहीं है। वह शिव है, वह अद्वैत है। इस प्रकार ओङ्कार आत्मा ही है, जो उसे इस प्रकार जानता है, वह आत्मा से आत्मा में प्रवेश कर जाता है।

गीता का कथन है कि 'जो पुरुष ॐ इस एकाक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप परमात्मा का चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त करता है।

ॐ की इस व्याख्या के बाद निष्कर्ष रूप में योग सूत्र का उपदेश है—

तज्जपस्तदर्थ भावनम्

उस ॐ का जप और उसके अर्थस्वरूप परमात्मा का ध्यान करना पुनः-पुनः चिंतन करना ईश्वर प्राणिधान है।

इस प्रकार तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान क्रिया-योग के प्रथम तीन साधन बताये गये हैं। क्रिया-योग की सिद्धि के लिए साधक को इन्हीं तीन साधनों का प्रारम्भ में अवलम्बन करना चाहिए।

यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि ॐ का जप उसके अर्थस्वरूप परमात्मा का ध्यान दोनों एक साथ सामान्य साधकों के लिए सम्भव नहीं है। ईश्वर प्राणिधान निरन्तर अभ्यास से ही होता है। ॐ का मानसिक जप करना और उसके वाच्य अर्थ ईश्वर के गुणों की भावना अर्थात् बारम्बार ध्यान करना ही ईश्वर प्राणिधान है। चित्त को सब ओर से खींचकर केवल ईश्वर में स्थिर कर देने का नाम भावना है। भावना से अविद्या आदि जो साधना में बाधक क्लेश हैं, सकाम कर्म, कर्मफल और वासनाओं के संस्कार जो बार-बार जन्म और मृत्यु के कारण बनते हैं—सब चित्त से नष्ट हो जाते हैं और शुद्ध, सात्त्विक संस्कारों का उदय होता है। निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही भावना दृढ़ होती है। भावना दृढ़ हो जाने पर साधक जब ॐ शब्द का मानसिक जप प्रारम्भ करता है, तो उसके साथ ही उसे ईश्वर का स्वरूप (ॐ का अर्थ) स्पष्ट होने लगता है।

साधक के लिए यही उचित है कि पहले वह ईश्वर के स्वरूप का ध्यान करे इसके बाद ॐ का मानसिक जप करे।

ओ३म् का जप और उसके अर्थस्वरूप की भावना

प्रणव (ॐ) के जप की प्रक्रिया बतलाने से पहले प्रणव के वैज्ञानिक स्वरूप का बोध करा देना आवश्यक है। विज्ञान की दृष्टि से प्रणव का स्वरूप यह है—जहाँ कोई कार्य है वहाँ कम्पन अवश्य होगा और जहाँ कम्पन होगा

वहाँ कोई शब्द अवश्य होगा। सृष्टि की उत्पत्ति ओंकार के ध्वनि से ही हुई है, इसलिए सृष्टि के आदि कारण रूप कार्य की ध्वनि ओङ्कार है और प्रणव-ध्वनि ही ओङ्कार है। प्रणव शब्दातीत है और ओङ्कार शाब्दिक है। प्रणव ध्वनि रूप है ध्वन्यात्मक शब्द का रूप वर्णात्मक प्रति-शब्द होने के कारण शाब्दिक ओङ्कार अथवा शब्दातीत प्रणव दोनों ही पूर्वापर संम्बन्ध से ईश्वर वाचक होने से प्रणव कहलाते हैं।

प्रणव ध्वन्यात्मक है, इसलिए, उसका उच्चारण मुख से नहीं किया जा सकता है, हाँ, मानसिक जप से परे केवल ध्यान की अवस्था में अन्तःकरण में ही प्रणव-ध्वनि सुनाई दे सकती है। उसी ध्वन्यात्मक प्रकृति के आदि शब्द ईश्वर वाचक प्रणव का वर्णात्मक प्रति शब्द ॐ का जप क्रिया-योग की सिद्धि के लिए बताया गया है। ॐ का जप पूर्ण परिपक्व हो जाने पर साधक योगी कहलाता है और फिर वह केवल ध्यान रूप ध्वन्यात्मक प्रणव की भूमि में पहुँच जाता है और **असम्प्रज्ञात समाधि** का अधिकार प्राप्त करता है। क्रिया-योग की साधना के इच्छुक व्यक्तियों के लिए उचित है कि वे ओ३म् नाम से ही परमात्मा की उपासना करें।

ओ३म् की उपासना मात्राओं द्वारा करने का विधान गुरु परम्परा से प्रचलित है।

यह बताया जा चुका है कि ओ३म् में चार पाद और चार मात्राएँ हैं। ओ३म् की पहली मात्रा 'अकार' परमात्मा के विराट् रूप का बोध कराती है। दूसरी मात्रा 'उकार' हिरण्यगर्भ' का बोध कराती है। तीसरी मात्रा 'मकार' ईश्वर का बोध कराती है और चौथे 'इति विराम' में सब मात्राएँ समाप्त हो जाती हैं। वह शुद्ध, बुद्ध, निर्लेप, निर्गुण परमात्मा का स्वरूप है। वह अदृष्ट है, उसको व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, उसका कोई प्रतीक नहीं, चिह्न नहीं, उसका कोई वर्णन नहीं किया जा सकता, वह विचार में नहीं आ सकता। वह अद्वैत है, उसको चौथा पाद मानते हैं, वह आत्मा है, उसी को जानना चाहिए।

इसी प्रसङ्ग में ओ३म् की मात्राओं का विज्ञान मय स्वरूप भी यदि समझ लिया जाए, तो मात्राओं से ओ३म् की उपासना सरल हो जाती है—

1. विराम—शुद्ध, निर्गुण, उपाधि रहित, चेतन अर्थात् परमात्मतत्त्व (चेतन तत्त्व का शुद्ध स्वरूप)।

2. मकार—चेतन तत्त्व। समष्टि कारण जगत् तथा व्यष्टि कारण शरीर। समष्टि कारण जगत् का अधिष्ठाता 'ईश्वर' उपास्य; व्यष्टिकारण शरीर का अभिमानी 'प्राज्ञ' उपासक।

3. उकार—चेतन तत्त्व+समष्टि सूक्ष्म जगत् तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर, समष्टि सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठाता 'हिरण्यगर्भ' तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी 'तैजस' उपासक।

4. अकार—चेतन तत्त्व + समष्टि स्थूल जगत् तथा व्यष्टि स्थूल शरीर समस्त स्थूल जगत् का अधिष्ठाता 'विराट्' उपास्य और विश्व उपासक। ओ३म् की मात्राओं के जप के साथ यही भावनाएँ करनी चाहिए।

मात्राओं द्वारा ॐ का जप

1. ओ३म् के पहले पाद की एक मात्रा (अकार) का वाचक जप करना चाहिए। अर्थात् अर्थ की भावना के साथ ॐ का जप वाणी से करना चाहिए।

2. दूसरे पाद दो मात्रा वाले आकार-उकार ओ३म् का मानसिक जप अर्थ की भावना के साथ करना चाहिए।

3. तीसरे पाद अकार, उकार और मकार तीन मात्रा वाले सम्पूर्ण ओ३म् का केवल ध्यान किया जाना चाहिए। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि दूसरे पादके दो पात्रा वाले ओ३म् का मानसिक जप पूर्ण रूप से परिपक्व अवस्था में सूक्ष्म होते-होते केवल ध्यान (ध्वनि) मात्र रह जाए तब तीसरे पाद तीन मात्रा वाले पूरे ओ३म् की उपासना सिद्ध होती है। ध्यान (ध्वनि) की सूक्ष्मता से साधक को ईश्वरीय बोध होने लगता है। यही ईश्वर प्राणिधान है।

4. चौथा पाद ओ३म् का मात्रा रहित विराम जीवन्मुक्ति की अवस्था है। जब ओ३म् का ध्यान (ध्वनि) अपनी अन्तिम परिपक्व अवस्था में सूक्ष्म होता हुआ समाप्त हो जाता है, तब असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाती है। यहाँ पहुँचकर साधक के समस्त क्लेश, विक्षेप, व्यवधान, उपाधियाँ समाप्त हो जाती हैं और उपास्य-उपासक भाव समाप्त हो जाता है। क्रियायोग का यही अन्तिम ध्येय है।

❑

द्वितीय पाद

क्रिया योग : स्वरूप और प्रयोजन

अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि क्रिया योग का स्वरूप क्या है, यह अन्य किन-किन नामों से जाना जाता है और इस क्रिया योग की साधना का प्रयोजन क्या है? किस लिए यह साधना की जाती है।

स्वरूप—धारणा, ध्यान और समाधि तीनों के संयुक्त रूप को क्रियायोग कहते हैं। धारण ध्यान आदि के स्वरूप को अलग-अलग इस प्रकार समझा जा सकता है।

धारणा—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि द्वारा चित्त को स्थिर करना चाहिए। जब चित्त स्थिर हो जाए तब उसे अन्य विषयों से हटाते हुए अपने ध्येय विषय में वृत्ति मात्र से बाँधना अर्थात् ठहराना धारणा है।

इसे और सरल ढङ्ग से समझना है, तो इस प्रकार समझा जा सकता है—'किसी विषय में चित्त को बार-बार ठहराने का नाम धारणा है।

ध्यान—धारणा में चित्त जिस वृत्ति मात्र से ध्येय में संलग्न होता है, जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदय होती रहे कि दूसरी ओर कोई बीच में न आ जाए तब उसको ध्यान कहते हैं। अर्थात् जिस विषय की धारणा की जाए उसी में चित्त जब एकाग्र हो जाता है, तब वह ध्यान कहलाता है।

समाधि—जिसमें मन विक्षेपों को हटाकर भलीभाँति धारण किया जाता है, अर्थात् एकाग्र किया जाता है, वह समाधि है। सारांश यह कि साधक को जब यह भान न रहे कि मैं ध्यान कर रहा हूँ वह अपने को अपने ध्येय के साथ एकाकार कर लेता है और केवल उसे अपने ध्येय का ही भान होता है, इतर कुछ नहीं, उसे समाधि कहते हैं।

धारणा, ध्यान और समाधिकी प्रथमावस्था का नाम संयम है। योग की भाषा में इन तीनों के संगम को संयम' कहा गया है, यह क्रियायोग का दूसरा नाम है।

क्रियायोग का दूसरा नाम **सम्प्रज्ञात समाधि** है। साधक जिसका ध्यान करता है, उस (ध्येय) का भलीभाँति संशय, अज्ञान (अविद्या) से रहित यथार्थ रूप से जो बोध प्राप्त करता है, उस **भावना** विशेष का नाम **सम्प्रज्ञात** है

अन्य विषयों को छोड़कर केवल एक ध्येय वस्तु को बार-बार चित्त में रखने का नाम **भावना** है।

जब साधक किसी स्थूल (प्रतिमा या चित्र अथवा व्यक्ति) ध्येय को आधार बनाकर उसमें चित्त को ठहराता है, तब पहले वह स्थूल वस्तु को देखता है। जैसे-जैसे उसकी एकाग्रता बढ़ती जाती है, वैसे ही उस (ध्येय) के सूक्ष्म अवयव भासते जाते हैं, यहाँ तक कि स्थूल भूतों के कारण सूक्ष्मभूतों का भी साक्षात् होने लगता है। एकाग्रता और अधिक बढ़ जाने पर सूक्ष्मभूतों को ग्रहण करनेवाली वृत्ति भी बन्द हो जाती है और तन्मात्राओं (सूक्ष्मभूत) के ग्रहण रूप सत्व प्रधान अहंकार का उसकी आनन्दमयी, मोदमयी वृत्तियों का साक्षात् होता है। इस तरह एकाग्रता की सूक्ष्मता और अधिक बढ़ जाने पर साधक में सतोगुण की वृद्धि होने लगती है और उसी के साथ आनन्द मयी अहंकार की वृत्ति भी सूक्ष्म होती जाती है और यहाँ तक स्थिति आ जाती है कि साधक में "केवल मैं हूँ, केवल मैं हूँ" यही ज्ञान शेष रह जाता है।

क्रियायोग किस लिए?

क्रियायोग की साधना किसलिए करनी चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर में योगसूत्र का कथन है—

समाधि भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च

समाधिकी भावना के लिए और क्लेशों को निर्बल बनाने के लिए **क्रियायोग** की साधना करनी चाहिए।

समाधि और भावना की व्याख्या की जा चुकी है, अब प्रश्न उठता है कि क्लेश कौन से हैं। योग साधना में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—पाँच प्रकार के क्लेश माने गए हैं। इन्हीं को सांख्य योग तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धता मिस्र कहता है।

अविद्या—अज्ञान का नाम अविद्या है। जिस वस्तु में जो गुण, धर्म नहीं है, उसमें उस गुण, धर्म की प्रतीति होना अविद्या है। जैसे—अनित्य वस्तु को

नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा मान लेना अविद्या है। अविद्या क्लेश के कारण चित्त और आत्मा को समझने वाला विवेक नष्ट हो जाता है और जड़ चित्त को ही आत्मा मान लिया जाता है। चित्त और आत्मा को अभिन्न मान लेने से अस्मिता क्लेश उत्पन्न होता है।

अस्मिता—अविद्या के कारण चैतन्य आत्मा और जड़ चित्त को एक जैसा मान लेना 'अस्मिता' क्लेश है। अस्मिता को 'हृदय ग्रन्थि' भी कहते हैं। जब चेतन रूप आत्मा और जड़ रूप चित्त के भेद का विवेकपूर्ण साक्षात् हो जाता है, तब हृदयग्रन्थिका भेदन हो जाता है, सारे संशय निवृत्ति हो जाते हैं।

राग—सुख भोगने के पीछे चित्त में जो भोग की इच्छा रहती है, उसका नाम राग' है।

जब शरीर, मन और इन्द्रियों को आत्मा समझ लिया जाता है तथा जिन विषयों और वस्तुओं से सुख की अनुभूति होती है, उसमें और उनको प्राप्त करने में साधनों में जो इच्छारूप तृष्णा और लोभ पैदा हो जाता है, उसके जो संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं, उसी का नाम राग-क्लेश है।

यह राग ही द्वेष का कारण होता है।

द्वेष—दुःख के अनुभव के पीछे जो घृणा वासना चित्त में रहती है, उसे द्वेष कहते हैं। जिन वस्तुओं अथवा जिन साधनों से दुःख प्रतीत हो उनसे जो घृणा और क्रोध उत्पन्न हो और उसके जो संस्कार चित्त में पड़ते हैं उसको द्वेष क्लेश कहते हैं। द्वेष क्लेश ही अभिनिवेश का कारण बनता है।

अभिनिवेश—मृत्यु का भय जैसे विद्वानों को हुआ करता है, उसी तरह मूर्खों को भी होता है। यही अभिनिवेश क्लेश है।

तात्पर्य यह है कि वह व्यक्ति जिसने शास्त्रों को पढ़ा है, किन्तु क्रियात्मक रूप से योग द्वारा अनुभव और यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, यह केवल शब्दों का ज्ञाता मात्र होता है। शास्त्र का रसज्ञ नहीं, कुदरती तौर पर बहता हुआ (स्वरसवाही) 'मरण भय उसे सताता है और जो शास्त्रवेत्ता नहीं है, सत्संग रहित है उस मूर्ख को भी मृत्युमय सताता है। यहीं अभिनिवेश क्लेश है।

आत्मा अजर है, अमर है, अविनाशी है, यह न मरता है, न मारा जाता है न पैदा होता है, न मरता है। शरीर के नष्ट होने पर यह नष्ट नहीं होता है।

यह शाश्वत है, पुरातन है। किन्तु राग द्वेष के कारण जब शरीर को ही आत्मा मान लिया जाता है और मूर्ख से लेकर विद्वान् तक आत्मा के स्वरूप को भूलकर भौतिक, नश्वर शरीर के पोषण रक्षण में संलग्न रहते हैं और उसके नाश से घबराते हैं, भयभीत होते हैं। इस मृत्युमय के जो संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं, उन्हीं को अभिनिवेश क्लेश कहते हैं। इसी अभिनिवेश क्लेश के कारण वासनाएँ चित्त भूमि में बैठकर इस जन्म और अगले जन्म को देने वाली होती है।

क्रियायोग अथवा 'सम्प्रज्ञात' समाधि से सूक्ष्म किए हुए क्लेश जब विवेक रूप अग्नि से जले हुए बीज के समान हो जाते हैं, तब 'असम्प्रज्ञात' समाधि द्वारा क्लेश भी चित्त की अपनी प्रकृति में लीन हो जाते हैं तब उनके निरोध की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

संयम—यह बताया जा चुका है कि धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों के समुदाय को 'संयम' कहा जाता है। क्रियायोग को सम्प्रज्ञातयोग और संयम योग भी कहा जाता है। जब धारणा, ध्यान और समाधि एक ही विषय में की जाती तो उस क्रिया को 'संयम' कहा जाता है।

जब संयम की साधना परिपक्व हो जाती है, तब उससे समाधि प्रज्ञा का प्रकाश होता है। प्रज्ञा का प्रकाश अथवा प्रज्ञालोक क्या है? इस जिज्ञासा के समाधान में इतना ही कहना पर्याप्त है कि समस्त विजातीय प्रत्ययों को हटाकर केवल अपने ध्येय विषय पर शुद्ध, सात्विक प्रवाह रूप से बुद्धि का स्थिर होना प्रज्ञालोक या प्रज्ञा का प्रकाश है।

क्रिया-योग की सिद्धि प्राप्त योगियों का मत है कि संयम का विनियोग चित्तवृत्तियों में करना चाहिए। पहले चित्त की स्थूलवृत्तियों को विजय करना चाहिए, फिर चित्त की सूक्ष्म वृत्तियों पर संयम करना चाहिए। स्थूलवृत्तियों को जीते बिना सूक्ष्मवृत्तियों पर संयम करना सिद्धि को दूर फेंक देता है।

इस संयम योग की क्रिया चित्त को वश में करने आत्मोन्नति में सहायक होती है। इसकी परिपक्व अवस्था आत्म स्वरूप की स्थिति का ज्ञान कराती है। संयम क्रिया का दुरुपयोग करते हुए भी देखा गया है, क्योंकि संयम योग सिद्ध हो जाने पर अद्भुत, अपूर्व, कल्पनातीत शक्तियों का उदय होता है। इस क्रिया योग द्वारा असम्भव को सम्भव कर दिखाना सहज और साध्य होता

है। ऐसे-ऐसे चमत्कार उत्पन्न किए जा सकते हैं, जिन्हें आज का विज्ञान भी नहीं समझ सकता है।

'संयम' का दुरुपयोग करने से आत्म अवनति हो जाती है और क्रियायोग युक्ति योगी अधोगति को प्राप्त होता है। यदि 'संयम' का उचित ढंग से उपयोग किया जाए, तो इससे राष्ट्र का, विश्व का, जनता का अमित कल्याण हो सकता है। इस प्रकार के कल्याणकारी कार्य में गुप्त हिमालय स्थित मृत्युंजयी योगी परमगुरु पूज्य त्र्यम्बक बाबा कर रहे हैं। इसके दुरुपयोग का एक उदाहरण स्वामी विभाश्रम द्वारा मृत पुरुष को जीवित कर देने का एक उदाहरण प्रदर्शन है, जिन्होंने सन् 1963 में गोपीगंज (जिला वाराणसी) और सन् 1964 में कानपुर में गंगा के तट पर सैकड़ों व्यक्तियों की उपस्थिति में नर-कंकाल को जीवित करने का प्रदर्शन किया था।

जिस तरह परमाणु का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों सम्भव है, वैसे ही संयम में अद्भुत शक्तियाँ विद्यमान हैं। इस क्रियायोग का रहस्य थोड़े में इतना समझ लेना आवश्यक है कि स्थूल भूतों की अपेक्षा सूक्ष्म भूत सूक्ष्मतर हैं। उनकी अपेक्षा अहंकार सूक्ष्मतर है तथा अहंकार की अपेक्षा चित्त सूक्ष्माति सूक्ष्मतर है। चित्त गुणों का प्रथम विषम परिणाम है और विश्व के समस्त पदार्थों की प्रकृति है। इसलिए यह सबका रूप धारणकर सकता है और सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण सबमें प्रविष्ट होकर उनमें यथोचित परिणाम कर सकता है। त्रियायोग संयम, सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त ही की प्रमुख भूमिका रहती है, इसलिए योगबल की सारी सिद्धियाँ, सब प्रकार के अद्भुत एवं कल्पनातीत चमत्कार इसी क्रियायोग या संयम योग द्वारा किए जा सकते हैं।

साधना बिना चित्त की एकाग्रता के सिद्ध नहीं होती है। चित्त को एकाग्र करने के लिए क्रियायोग की साधनों में बहुत बल दिया गया है। चित्त कैसे एकाग्र किया जाए यह एक जिज्ञासा है, जिसका समाधान गुरु परम्परा से प्राप्त प्रक्रिया द्वारा किया जा रहा है।

चित्त को एकाग्र करने की साधना

प्राणायाम चित्त की एकाग्र स्थिति उत्पन्न करता है। चित्त में दो वस्तुएँ समाविष्ट रहती हैं, एक तो प्राणों का स्पन्दन (प्राणियों की निरन्तर क्रिया)

और दूसरी वासना। प्राणायाम करने से प्राणों का स्पन्दन जब क्षीण (सूक्ष्म) हो जाता है तब वासना भी क्षीण हो जाती है। शरीर के अन्दर जो ज्ञान इन्द्रियाँ और कर्म इन्द्रियाँ है, उन सबका व्यापार (कारोबार) प्राण सब इन्द्रियों के कार्य व्यापार को रोककर मन को चित्त को एकाग्र बनाने में समर्थ होता है। प्राणायाम करने से इन्द्रियों के सब दोष उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जैसे— आग में तपाने से सोने, चाँदी, लोहे आदि धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं। इन्द्रियों के दूषित होने से ही चित्त वृत्तियाँ विक्षिप्त होती है। प्राणायाम इन्द्रियों के दोषों को दूर कर चित्त को एकाग्र बनाता है। प्राणों का संयम, प्राणों की साधना प्राणायाम है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह प्राणों की साधना करने से पहले प्राणों का ज्ञान प्राप्त कर ले।

पाश्चात्य दार्शनिक या योगी अथवा वैज्ञानिक प्राण को 'आत्म-तत्त्व' मानते हैं। बहुतेरे लोग तो 'श्वास' को ही प्राण समझते हैं। वस्तुतः प्राण न श्वास है, न आत्म-तत्त्व है, वह 'जड़ तत्त्व' है, जिससे श्वास प्रश्वास की समस्त क्रियाएँ जीवित शरीर में संचालित हुआ करती हैं।

प्राण की महिमा का बखान दर्शन शास्त्र, वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों एवं ग्रन्थों में बहुत विस्तार से किया गया है। भौतिक पदार्थों में सर्वाधिक व्यपकता का सूचक आकाश और सर्वाधिक शक्ति का प्रकाशक (द्योतक) प्राण माना गया है। इसीलिए छान्दोग्य उपनिषद् में परमात्मा की व्यापकता को आकाश से और ज्ञानमय सर्वशक्तिमत्ता को प्राण से निर्दिष्ट किया गया है।

तैत्तरीय उ. ब्रा. का कहना है कि 'देवता प्राण के सहारे साँस लेते हैं और मनुष्य, पशु भी प्राण से अनुप्राणित रहते हैं। समस्त जीवों का आयु प्राण है, इसलिए प्राण सर्वायुष कहा गया है।

सृष्टि-उत्पत्ति के प्रसंग में प्रश्नोपनिषद् प्राण का बड़े रोचक ढंग से वर्णन करता है—'आकाश से वायु, अग्नि और जल उत्पन्न हुए हैं और इनके परमाणुओं से बड़े-बड़े नक्षत्र तारागण और सूर्य सब 'रयि' हैं, और यह शक्ति जिससे ये सब स्पन्दित हुआ करते हैं, जिससे ये सब स्थिर रह कर अपना कार्य कर रहे हैं, प्राण है।

हमारे शरीर में स्थित प्राण स्वास को ऊपर ले जाता है, अन्दर ले जाता है और बाहर निकलता है। मूँह, नाक द्वारा गति करना, खाए हुए अन्नों को

पचाना और अलग करना, अन्न को पुरीष (मल) बनाना, जलको पसीना और मूत्र बनाना, रस को वीर्य बनाना प्राण वायु का कार्य है। हृदय से लेकर नासिका पर्यन्त शरीर के ऊपरी भाग में प्राण वायु रहता है। ऊपर की इन्द्रियों का काम इसी पर आश्रित रहता है।

अपान वायु का काम गुदा से मल, उपस्थ से मूत्र, अण्डकोश से वीर्य तथा गर्भ आदि को नीचे ले जाना है तथा कमर, घुटने, जंघा का काम करना है। अपान वायु नीचे की ओर गति करता हुआ नाभि से लेकर पैरों के तलवों तक स्थित रहता है। नीचे की इन्द्रियों का काम इसके अधीन है।

समान वायु कटि प्रदेश में नाभि से लेकर हृदय तक स्थिर रहता है। बचे हुए रस आदि को सब अंगों और नाड़ियों को बराबर-बराबर बाँटना इसका काम है। व्यान वायु उपस्थ इन्द्रिय के मूल से ऊपर अवस्थित रहता है। यह सारी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियों में गति करता हुआ शरीर के हर अंग में रक्त संचार करता है।

उदान वायु कण्ठ में रहता है और शिर तक गति किया करता है। शरीर को उठाए रखना इसका काम है। इस उदान वायु द्वारा ही मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से बाहर निकलना तथा सूक्ष्म शरीर के कर्म, गुण, वासनाओं और संस्कारों के अनुसार गर्भ में प्रवेश होना होता है। क्रियायोग की सिद्धि प्राप्त किए हुए योगी लोग इसी के द्वारा स्थूल शरीर से निकलकर लोकलोकान्तरों में भ्रमण कर आया करते हैं।

नागवायु का छींकना, कूर्मवायु का सिकोड़ना, कृकर वायु का भूख प्यास उत्पन्न करना, देवदत्तवायु का निद्रा, तन्द्रा उत्पन्न करना और धनंजय वायु का पोषण करना आदि काम है।

उपर्युक्त प्राण लेकर उदान तक पाँच प्राण मुख्य हैं और नाग से लेकर धनंजय तक पाँच प्राण गौण हैं। निष्कर्ष यह है कि हृदय में प्राण वायु रहता है, गुह्य प्रदेश, गुदा, उपस्थ में अपानवायु, नाभि मण्डल में समान कण्ठ में उदान और समस्त शरीर में व्यान रहता है।

इन प्राणों को अपने वश में करके साधक का अधिकार उसके शरीर, इन्द्रियों और मन पर हो जाता है, फिर वह आश्चर्यजनक, अकल्पनीय कार्य करने लगता है। प्राणों को वश में करने का नाम **प्राणायाम** है।

प्राणवाहिनी नाड़ियाँ

मनुष्य शरीर के अन्दर प्राणों को वहन करने वाली असंख्य नाड़ियाँ हैं, उनमें से पन्द्रह नाड़ियाँ मुख्य हैं—

1. सुषुम्ना
2. इडा
3. पिंगला
4. गान्धारी
5. हस्त जिह्वा
6. पूषा
7. यशस्विनी
8. शूरा
9. कुहू
19. सरस्वती
11. वारुणी
12. अलम्बुषा
13. विश्वोदरी
14. शंखिनी
15. चित्रा

इन पन्द्रह में से सुषुम्ना, इडा, पिंगला प्रधान हैं। मुख्यतया क्रियायोग से इन्हीं तीन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन तीनों से सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ है। यह नाड़ी अत्यन्त सूक्ष्म नली के समान है, जो गुदा इन्द्रिय के निकट से स्थान (गुदेन्द्रिय के निकट) से सुषुम्ना के बाएँ भाग से इडा और दाहने भाग से पिंगला नासिका के मूल स्थान तक चली गई हैं। दोनों भौहों के बीच त्रिपुटी पर जहाँ इन तीनों नाड़ियों का मिलन होता है, उस स्थान को योगी लोग 'युक्त त्रिवेणी' कहते हैं। योग की भाषा में सुषुम्ना सरस्वती है, इडा गंगा है और पिंगला यमुना है। गुदेन्द्रिय के पास जिस स्थान से ये तीनों नाड़ियाँ अलग होती हैं, उस स्थान को योगी लोग 'युक्तत्रिवेणी' कहते हैं। योग की भाषा में सुषुम्ना सरस्वती है, इडा गंगा है और पिंगला यमुना है। गुदेन्द्रिय के पास जिस स्थान से ये तीनों नाड़ियाँ अलग होती हैं, उस स्थान को योगीजन 'मुक्त त्रिवेणी' कहते हैं।

प्राणशक्ति निरन्तर इडा और पिंगला नाड़ियों से श्वास प्रश्वास के रूप से प्रवाहित होती रहती है। इडा को चन्द्र नाड़ी और पिंगला को सूर्य नाड़ी कहा जाता है। इसी आधार पर नासिका के दाहिने छिद्र से बहने वाला श्वास सूर्य स्वर और बाएँ छिद्र से बहने वाला चन्द्र स्वर कहलाता है। नासिका के मध्य भाग से जो स्वर चलता है, उसे सुषुम्ना स्वर कहते हैं।

प्राणायाम की साधना में स्वरों का संयम भी सहायक माना गया है। स्वस्थ मनुष्य का स्वर प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदय के समय से ढाई-ढाई घड़ी के हिसाब से क्रमशः एक-एक नथुने से चला करता है। इस तरह एक दिन रात से बारह बार बाएँ और बारह बार दाएँ नथुने से पारी-पारी से श्वास चलता है।

सूर्य स्वर (दाहिना) रजोगुण प्रधान होता है, चन्द्र स्वर (बायाँ) तमोगुण प्रधान होता है और सुक्षुम्णा (मध्य स्वर) सतोगुण प्रधान होता जब सूर्य स्वर चल रहा हो तब परिश्रम प्रधान कठिन कार्य करना चाहिए और जब चन्द्र स्वर चल रहा हो तब अल्प श्रम प्रधान सरल, सहज, एवं स्थायी कार्य करना चाहिए। सुषुम्ना (जब दोनों स्वर सम अथवा क्षण-क्षण में बदलते चल रहे हों) में योग साधना तथा सात्विक, धार्मिक कार्य करना चाहिए।

स्वर बदलने की क्रिया

1. जो स्वर चलाना अभीष्ट हो, उस नथुने पर कुछ समय तक ध्यान जमाने से वह चलने लगता है।

2. जो स्वर चलाना हो उसके उलटे स्वर में रूई डाल देने से स्वर बदल जाता है।

3. जो स्वर चलाना हो, उसके विपरीत करवट लेट जाने से कुछ देर में स्वर बदल जाता है।

स्वर बदलने की यह क्रिया अस्वस्थता, बीमारी, दर्द, पीड़ा की स्थिति में भी सहायक बनती है। किसी प्रकार का शरीर में कहीं भी दर्द हो तो उस समय जो स्वर चलता हो उसे बदल देने से आराम मिलता है। दीर्घकालिक बीमारियों में दीर्घकाल तक स्वर बदले रहना

जब योगाभ्यास करना हो, उपासना या कोई धार्मिक कृत्य करना हो तो सुषुम्ना स्वर चलाने के लिए नासिका के अग्रभाग (नथुना) के मध्य भाग में नाक की नोक पर ध्यान करने से सुषुम्ना स्वर चलने लगता है।

प्राणायाम की क्रियात्मक विधि

यह सामान्य नियम है कि एक स्वस्थ मनुष्य स्वाभाविक रूप में एक मिनट में पन्द्रह बार श्वास लेता है। इस प्रकार की साधारण स्थिति में श्वास की गति के चार क्रम होते हैं—

1. श्वास का भीतर जाना।
2. श्वास का भीतर रुकना।
3. श्वास का बाहर निकलना।
4. श्वास का बाहर रुकना।

1. जब श्वास भीतर जाता है, तो उसे **श्वास** कहते हैं।
2. जब बाहर निकलता है, तो वह **प्रश्वास** कहलाता है।
3. और अन्दर तथा बाहर रुकने पर वह **विराम** कहलाता है।

श्वास-प्रश्वास की इस प्रकार की गति को साधक जब अपने वश में कर लेता है, तो शरीर के अन्दर प्रवाहित होने वाली प्राण की सारी सूक्ष्म गतियाँ वशीभूत हो जाती हैं और साधक अद्भुत, कल्पनातीत शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है। उसकी कुण्डलिनी भी जाग्रत हो जाती है। चञ्चल और दुर्निग्रह मन वशीभूत हो जाता है।

पतञ्जलि मुनिने प्राणायामं को योग का चौथा अङ्ग मानकर उसका लक्षण नियम पूर्वक श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना बताया है। श्वास की गति को रोकने के लिए तीन क्रियाएँ बताई हैं, इसलिए प्राणायाम के तीन मुख्य भेद किये गये हैं—

1. पूरक = अभ्यन्तर वृत्ति। श्वास को अन्दर ले जाना।
2. रेचक = वाह्यवृत्ति। श्वास को बाहर निकालना।
3. और कुम्भक = स्तम्भवृत्ति। श्वास को रोक रखना।

1. अभ्यन्तर वृत्ति द्वारा श्वास को नाभि, मूलाधार आदि अभ्यन्तर प्रदेश तक ले जाकर श्वास की मात्राएँ बढ़ाकर संख्या के परिमाण से (कई श्वासों को एक श्वास बनाकर) दीर्घ और सूक्ष्म बनाकर उसकी गति का अभाव किया जाता है। इस प्रकार पूरक द्वारा श्वास की गति को रोकने को पूरक सहित कुम्भक कहा जाता है। यही अभ्यन्तर कुम्भक़ है।

2. उपर्युक्त ढङ्ग से प्रश्वास को सूक्ष्म बनाकर उसकी गति को जब रोक दिया जाता है, तो उसे रेचक सहित कुम्भक कहा जाता है। यह बाह्य कुम्भक है।

3. पूरक, रेचक किये बिना श्वास-प्रश्वास दोनों की गतियों को कुम्भक द्वारा एकदम रोक देना कुम्भक कहलाता है।

क्रियायोग की सिद्धि के लिए अनुभवी सिद्ध योगियों ने प्राणायाम की एक जो सरल किन्तु विलक्षण क्रिया बतलायी है, उसे **चतुर्थ प्राणायाम** भी कहते हैं। इस प्राणायाम को श्वास-प्रश्वास को रोके बिना केवल रेचक और पूरक द्वारा सिद्ध किया जाता है। इसके निरन्तर अभ्यास के श्वास-प्रश्वास की गति निरुद्ध हो जाती है और विलक्षण अनुभव हुआ करते हैं।

तीन प्रकार के प्रमुख प्राणायाम के क्रिया भेद से अनेक नाम, रूप है। उन सबका निरूपण न करके हम उस चतुर्थ प्राणायाम की क्रिया को प्रस्तुत कर रहे हैं, जो सबके लिए साध्य है, शीघ्र सफलता देनेवाली है और किसी गुरु के सान्निद्धय या निर्देश की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि प्राण और अपान वायु को मिलाने को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम सरल योग नहीं है किसी श्रेष्ठ, अनुभवी गुरु से सीख कर ही प्राणायाम में प्रवृत्त होना चाहिए। पुस्तकें पढ़कर, चित्र देखकर प्राणायाम का अभ्यास करने से भयङ्कर हानि की सम्भावना रहती है, इसलिए यहाँ उसी क्रिया को बताया जा रहा है, जो पढ़कर, देखकर सहज ढङ्ग से की जा सकती है और सफलता प्राप्त की जा सकती है। यह क्रिया गोपनीय है, गुरु-परम्परा से प्राप्त है।

चतुर्थ प्राणायाम की विधि

चतुर्थ प्राणायाम की चार विधियाँ हैं—

1. केवल रेचक द्वारा जहाँ तक जा सके श्वास को बाहर ले जाइए और बिना रोके हुए वहाँ से पूरक द्वारा जहाँ तक जा सके श्वास को अन्दर ले जाइए। प्रारम्भ में तीन बार रेचक, पूरक करें। धीरे-धीरे संख्या बढ़ाते जाएँ। बीस तक केवल रेचक, पूरक करना चाहिए।

2. मूलाधार चक्र से ओ३म् का मन ही मन उच्चारण शुरू कर ओ३म् के जप के साथ यह भावना करें कि 'ओ' के उच्चारण से श्वास अन्दर आ रहा है और 'अम्' कहने पर बाहर निकल रहा है।

3. नासिका के अग्र भाग, भृकुटी, ब्रह्मरन्ध्र इनमें से किसी एक चक्र पर यह भावना करते हुए ओ३म् का जप करें कि 'ओ' के उच्चारण करने से उसी स्थान में श्वास अन्दर आ रहा है, जहाँ भावना की गई है और 'अम्' कहने से श्वास उस स्थान से बाहर निकल रहा है।

4. ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करते हुए श्वास-प्रश्वास की गति में ऐसी भावना करनी चाहिए कि 'ओ' से श्वास मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्णा नाड़ी में होता हुआ मूलाधार तक जा रहा है और 'अम्' के उच्चारण के साथ वहाँ से ब्रह्मरन्ध्र तक लौट रहा है।

चतुर्थ प्राणायाम की इन चार विधियों में से किसी एक का अभ्यास किया जा सकता है अथवा चारों का किया जाए।

कुम्भक के अन्तर्गत अन्य उपयोगी प्राणायाम

यहाँ पर मुख्य विषय मन और चित्त को एकाग्र बनाने की क्रियाओं-को प्रस्तुत करना हमारा उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधक को शरीर से, मन से स्वस्थ और प्रसन्न चित्त रहने की आवश्यकता होती है। यदि मन उदास, चिन्तित हो, शरीर व्याधिग्रस्त, रोग ग्रस्त हो उस हालत में मन को वश में करने के लिए जो प्राणायाम किए जाएँगे, वे खतरनाक होते हैं। इसलिए कुम्भक प्राणायाम के अन्तर्गत कुछ ऐसी क्रियाओं की विधि यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं, जिन्हें साधक प्राणायाम करने से पहले नित्य नियमित कर लिया करें तो शरीर, मन स्वस्थ, पवित्र बने रहेंगे, साधना निर्विघ्न चलती रहेगी और शीघ्र सफलता प्राप्त हो सकती है।

1. ताल युक्त प्राणायाम—इस प्राणायाम का अभ्यास करने से पहले हाथ के मणिबन्ध (कलाई) में अँगूठे की ओर वाली नाड़ी पर अँगुलियों को रखकर उसकी गति (धड़कन) की भलीभाँति पहचान प्राप्त कर लेनी चाहिए। नाड़ी की गति की पहचान का अभ्यास हो जाने के बाद निम्नाङ्कित विधि से तालयुक्त प्राणायाम करना चाहिए।

जिस आसन से बैठने में तकलीफ न हो, इस सुखासन से बैठकर नाड़ी की गति 1 से 6 तक गिनते हुए रेचक और 1 से 3 तक गिनते हुए बाह्य कुम्भक करना चाहिए। यह एक प्राणायाम हुआ। इस तरह सात प्राणायाम करना चाहिए। धीरे-धीरे प्राणायाम की संख्या बढ़ाते रहना चाहिए।

इस प्राणायाम से मन की एकाग्रता इतनी बढ़ती है कि इस प्राणायाम का अभ्यासी एक निश्चित समय पर प्राणायाम द्वारा तालयुक्त होकर अपने विचारों की तरंगें रेडियो की भाँति हजारों मील दूर स्थित व्यक्ति के पास भेज सकता है।

2. शीतली कुम्भक—कौए की चोंच की आकृति में जीभ को ओंठों से बाहर निकालकर वायु को धीरे-धीरे खींचना चाहिए, जितना खींचा जा सके खींचने के बाद कुछ देर तक रोककर नाक के दोनों नथुनों से वायु को निकाल दिया जाए।

इस प्राणायाम का अभ्यास हो जाने पर पित्त से उत्पन्न होने वाले रोग दूर हो जाते हैं। रक्तपित्त, रक्तविकार, पेचिश, अम्लपित्त, प्लीहा, अजीर्ण, आध्मानशूल आदि रोग दूर होते हैं। तेज और सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

3. शीत्कारी प्राणायाम—जिह्वा को ओष्ठों से बाहर निकाल कर उसके अगले भाग को दाँतों और ओंठों से हल्का दबाकर शीत्कार करते हुए वायु को खींचना चाहिए। कुछ देर तक वायु को रोककर नासिका के दोनों छिद्रों से धीरे-धीरे निकाल देना चाहिए।

4. काकी प्राणायाम—ओंठों को सिकोड़कर कौए की चोंच के समान बनाकर वायु को धीरे-धीरे खींचा जाए। जितना खींचा जाए खींचकर कुछ समय तक रोकने के बाद नासिका के दोनों छिद्रों से वायु को धीरे-धीरे निकाल दें।

साधना में स्वस्थ शरीर और प्रसन्न चित्त रहने के लिए नाड़ी शोधन अत्यन्त आवश्यक होता है। नाड़ी-शोधन के लिए एक प्रकार का प्राणायाम ही करना पड़ता है, जिसे नाड़ी शोधन प्राणायाम कहते हैं।

5. नाड़ी-शोधन प्राणायाम—बाएँ नासिका-छिद्र से एकदम श्वास को फेंककर फिर उसी नासिका-छिद्र से बाहर से वायु को खींचकर तनिक भी रोके बिना एकदम दाहिने नासिका-छिद्र से वायु को निकाल कर बाहर फेंक दे। फिर दाहिने नासिका-छिद्र से वायु को खींचकर बाएँ नासिका-छिद्र से तत्काल बाहर निकाल कर फेंक दे।

नाड़ी-शोधन की यह क्रिया प्रारम्भ में तीन बार करे फिर क्रमशः बढ़ाते रहना चाहिए। अभ्यास हो जाने पर प्रति दिन बीस बार यह क्रिया करनी चाहिए।

त्राटक-क्रिया की विधि

मन को एकाग्र करने के लिए त्राटक की क्रिया बहुत उपयोगी है। त्राटक सिद्ध हो जाने पर अनेक अद्भुत आश्चर्यजनक काम किये जा सकते हैं।

त्राटक क्रिया नेत्रों से की जाती है। त्राटक से नेत्रों में सौरशक्ति, चन्द्रशक्ति प्रचुर मात्रा में निहित हो जाती है। त्राटक से सम्मोहन, वशीकरण, स्तम्भन, उच्चाटन और मारण तक किये जाते हैं। सूर्य की किरणों में नेत्रों का संयम कर आग पैदा की जाती है। शक्तिशाली इंजन की गति रोक दी जाती है। किसी को मूर्च्छित, बेहोश कर दिया जा सकता है। त्राटक सूर्य-विज्ञान का एक निम्न अंश है, किन्तु अनेक प्रकार के चमत्कार इसके द्वारा सम्भव हुआ करते हैं। आचार्यों ने आन्तर त्राटक, मध्य त्राटक और बाह्य त्राटक भेद से तीन प्रकार के त्राटक बताये हैं—

1. नेत्रों को बन्द करके भ्रूमध्य, हृदय या नाभि किसी एक आन्तरिक स्थान में चक्षुवृत्ति की भावना से देखते रहना आन्तर त्राटक है।

2. किसी धातु या प्रस्तर की बनी हुई वस्तु पर अथवा काली स्याही से दीवार या कागज पर बनाये गये बिन्दु पर या किसी छवि या मूत्ति पर अथवा भ्रूमध्य या नासिका के अग्र भाग पर खुले नेत्रों से अपलक देखते रहना **मध्यत्राटक** है।

3. प्रातः काल उदय होते हुए सूर्य अथवा चाँदनी रात के उज्ज्वल चन्द्र या देदीप्यमान तारा पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया का नाम **वाह्य त्राटक** है।

यह ध्यान रखा जाए कि पढ़कर या किसी से सुनकर त्राटक की साधना भूलकर भी न की जाए। किसी सुयोग्य, अनुभवी गुरु के सान्निध्य में रहकर इसकी साधना श्रेयस्कर होती है।

पैंतालीस वर्ष पूर्व एक उदात्त अनुभवी योगी के निर्देशन में मैंने स्फटिक पत्थर पर अङ्कित त्रिकोण यंत्र को माध्यम बनाकर त्राटक की साधना की थी। मेरी जरा-सी भूल के कारण दोनों आँखें विकारयुक्त हो गईं। मैं यह भी बतला देना चाहता हूँ कि त्राटक की साधना स्फटिक पत्थर पर बने यंत्र पर करने से फलवती होती है। केवल दृष्टि जमाना ही नहीं, गुरु द्वारा उपदिष्ट बीज मंत्र का जप और मंत्राधिष्ठित देवता का ध्यान भी करना चाहिए। बिना ध्यान और जप के केवल दृष्टि जमाने का अभ्यास जादूगर, बाजीगर ही बनाता है। योगी और सिद्ध नहीं।

पातञ्जलयोग सूत्र के व्यासभाष्य में भगवान् व्यास जी ने चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य को साधन बतलाते हुए निम्नाङ्कित रूपक द्वारा बड़े सहज ढङ्ग से चित्त के निरोध का निरूपण किया है—

'चित्त एक नदी है, जिसमें वृत्तियों का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। इस चित्तरूपी नदी की दो धाराएँ हैं। एक संसार-सागर की और प्रवाहित होती है और दूसरी कल्याण-सागर की ओर बहती है। जिस आदमी ने पूर्वजन्म में सांसारिक विषयों के भोग के लिए कार्य किये हैं, उसकी चित्तवृत्तियों की धारा पूर्वजन्म के उन संस्कारों के कारण 'विषय-मार्ग' से बहती हुई 'संसार-सागर' में जा मिलती हैं और जिस व्यक्ति ने पूर्व जन्म में आध्यात्मिक उत्थान के कल्याणकारी कार्य किये हैं, उसकी चित्तवृत्तियों की धारा उसके पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण विवेक-मार्ग से बहती हुई 'कल्याण-सागर' में जा मिलती हैं।'

सांसारिक लोगों की पहली धारा तो जन्मकाल से खुली रहती है, किन्तु दूसरी धारा को सुयोग्य योगयुक्त गुरु अथवा शास्त्र या ईश्वराधन खोलते हैं। गुरु या आचार्य शिष्य की पहली धारा को बन्द करने के लिए विषयों स्रोत पर 'वैराग्य का बाँध' बाँधते हैं, फिर अभ्यास की कुदाली से दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक-स्रोत में गिरा देते हैं, तब प्रबल वेग से वह सारा प्रवाह 'कल्याण-सागर' में गिरकर उसमें लीन हो जाता है।

इसलिए साधक को चाहिए कि अभ्यास और वैराग्य (तृष्णा का क्षय) दोनों के सहकार से चित्त वृत्तियों को वशीभूत करे। योगाभ्यास के लिए निरन्तर धैर्य, उत्साह और श्रद्धापूर्वक साधना करनी चाहिए। जल्दबाजी उतावली नहीं करनी चाहिए। साधक के लिए अभ्यास और वैराग्य की सर्वत्र आवश्यकता है। अभ्यास के द्वारा तमोगुण का नाश होता है। आलस्य, अकर्मण्यता, अज्ञान आदि दोष नहीं आते। वैराग्य से रजोगुण नष्ट होता है और सद्गुण अपने आप प्रकट होने लगता है। उसके साथ ही मन में एकाग्रता और निर्मलता आने लगती है।

□

तृतीय पाद

ध्यान निर्विषयं मनः

जब मन विषयों से रहित होकर एकाग्र, शान्त, सुस्थिर हो जाता है, तब मन की उस स्थिति को ध्यान कहा जाता है। जब मन चञ्चल होता है, तो तरह-तरह के कुविचार उसे घेर लेते हैं। मन विचारों की तरङ्गों का आघात पाकर इधर-उधर भटकता है। ऐसी हालत में ध्यान ही एक ऐसी शक्ति है जो मन को पवित्र, एकाग्र और सुस्थिर बनाती है। ध्यान क्या है? यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा उठा करती है। वस्तुतः ध्यान चेतना की एक अवस्था है। यह अवस्था जब प्राप्त हो जाती है, तब समस्त अनुभूतियाँ एक ही अनुभूति में विलीन हो जाती है। भेद-भावना और विकल्प नष्ट हो जाते हैं। विचारों में समरसता और सामंजस्य आ जाता है। ध्यानस्थ हो जाने पर एक ऐसी अखण्ड अनुभूति का उदय होता है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय, ध्याता और ध्येय का भेद नहीं रहता है। विधि पूर्वक नियमित रूप से ध्यान का अभ्यास करने से साधक का हृदय पवित्र बन जाता है, दृष्टि निर्मल बन जाती है और समस्त दुःखों, सङ्कटों से मुक्ति मिल जाती है।

हमारे शरीर के अन्दर ऐसे अनेक केन्द्र हैं, जो चेतना के विभिन्न स्तरों को प्रकट करते हैं। जैसे, जब हमारा मन निम्न केन्द्रों पर पहुँचता है, तो हमें क्रोध, भय, ग्लानि, ईर्ष्या आदि विकार घेर लेते हैं। हम अस्वस्थ, उदासीन रहने लगते हैं और हमारा मन चञ्चल तथा अशान्त बना रहता है और जब वही मन नीचे के केन्द्रों से हटकर ऊपर के केन्द्रों में अधिष्ठित होता है, तब हमारा सम्बन्ध जीवन के सूक्ष्म, शक्तिशाली तत्त्वों से जुड़ जाता है। हमारे अन्दर सात्त्विक गुणों का उदय होता है। हमारी कथनी और करनी में एकरूपता आ जाती है। विचारों और व्यवहारों में समानता रहती है। तन, मन से हम पवित्र बन जाते हैं। मद, अहङ्कार निःशेष हो जाता है और हममें पवित्रता, नम्रता तथा दिव्य गुणों का विकास होने लगता है।

उच्च कोटि के योगियों का यह अनुभूत कथन है कि मन को अन्तर्मुखी बनाना चाहिए। मन जब अन्तर्मुखी बन जाता है, तभी जीवन-सिद्धि सम्भव होती है। मन के अन्तर्मुखी होने पर सच्ची शक्ति प्राप्त होती है। यही शक्ति आत्मकल्याण और लोक कल्याण किया करती है। ऐसी शक्ति-सम्पन्न प्राप्त साधक या योगी एक स्थान पर बैठकर विश्व प्राणिमात्र का कल्याण किया करते हैं।

जब मनुष्य निरन्तर प्रयास करने पर भी कार्य-सिद्धि नहीं प्राप्त कर पाता, निराशा, हताशा से किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है, उस समय उसके लिए ध्यान एक शक्तिशाली औषधि बनकर उसकी चिन्ता, निराशा, ग्लानि को दूर करता है। ध्यान योग साधक को उत्साह, शक्ति प्रदान करता है, उसका हृदय प्रसंन्नता से भर जाता है। हताशा, निराशा का लय हो जाता है।

उड़िया बाबा इस शती के उच्च कोटि के ध्यान योगी थे। केवल ध्यान योग से ही उन्होंने आत्मसाक्षात्कार कर लिया था। उनका कहना था कि ध्यान योग की सिद्धि अपेक्षित है। उन्होंने बताया था कि सिद्धासन से बढ़कर कोई और आसन नहीं है तथा शाम्भवी मुद्रा से बढ़कर कोई मुद्रा नहीं है। जब तक आसन सिद्ध नहीं होता है तब तक ध्यान में सफलता नहीं मिलती है। तीन घंटे तक लगातार बिना किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव किए किसी भी आसन से बैठने की क्षमता जब आ जाती है, तब उस आसन को सिद्ध हुआ समझना चाहिए।

ध्यान के लिए शान्त और एकान्त स्थान होना चाहिए। वन, उपवन, अरण्य, सरिता, सरोवर-तट, गिरिगह्वर ध्यान के लिए उत्तम स्थान है। यदि गृहस्थों के लिए ऐसे स्थानों में जाकर साधना करना सम्भव न हो तो घर पर ही कोई शान्त, एकान्त स्थान बना लेना चाहिए। शान्त एकान्त का तात्पर्य है, किसी प्रकार का कोलाहल न हो, ध्यान में विघ्न पैदा करने वाला कोई कारण न उत्पन्न हो, स्वच्छ, पवित्र वातावरण हो। गाँव-घर की ध्वनि और वन, अरण्य की ध्वनि में अन्तर होता है। घर में ऊँची आवाज से बोलना हँसना आदि विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ जहाँ ध्यान को भंग कर देती हैं, साधना में बाधक बनती हैं, वहाँ वन-पर्वत, सरिता-सरोवर में पक्षियों का कलरव, सरिताओं की लहरों का गान, गिरिगह्वरों की नीरवता, निस्तब्ध वातावरण की

शून्यता, पुष्पों की सुगन्धि, भौंरों का गुंजन मन को एकाग्र बनाने में सहायक होते हैं। चित्त प्रसन्न हो जाता है, हृदय आनन्द से भर जाता है। ऐसे आह्लादक वातावरण में साधक अपने इष्ट के ध्यान में तन्मय हो जाता है।

यह दृढ़ नियम है कि प्रतिदिन नियत समय पर ही ध्यान किया जाए और ध्यान की अवधि भी एक-सी होनी चाहिए। समय में कथमपि व्यतिक्रम नहीं होना चाहिए। किसी दिन ध्यान की अवधि कम और किसी दिन अधिक खतरनाक होती है। अवधि बढ़ाई जा सकती है घटानी नहीं चाहिए। ध्यान के लिए उत्तम समय ब्रह्ममुहूर्त्त अथवा अर्द्धरात्रि है। जिस ध्यान को जिस नियम और पद्धति से प्रारम्भ किया जाए निरन्तर उसी नियम और पद्धति से अभ्यास करता रहे। बदलना नहीं चाहिए। बदलने से सफलता नहीं मिलती है। इसलिए सुयोग गुरु के निर्देशन की अपेक्षा बताई गई है।

क्रियायोग अन्तरङ्ग योग है। इसका साक्षात् सम्बन्ध मानसिक एकाग्रता से है। धारणा, ध्यान और समाधि तीनों को मिलाकर क्रियायोग की सिद्धि होती है। इन्हीं तीनों को संयम भी कहा जाता है। यह बताया जा चुका है कि मन को किसी एक स्थान में लगाना धारणा है। शरीर के किसी एक अङ्ग में मन स्थिर करने को **पिंडस्थ धारणा** कहा जाता है। किसी मूर्त्ति, चित्र, पुष्प, यंत्र, मण्डल अथवा सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों, नक्षत्रों पर जब धारण की जाती है, तो उसे **रूपस्थ धारणा** कहते हैं। भगवान् के किसी भी नाम—हरि, ईश्वर, ॐ, अल्लाह, परमात्मा, राम, शिव, कृष्ण—पर मन को एकाग्र करना पदस्थ धारणा है और जब निराकार का चिन्तन किया जाता है तो वह **रूपातीत धारणा** कही जाती है।

इस प्रकार धारणा करते-करते मन जब दीर्घकाल तक एक ही विषय में स्थिर रहने लगता है तो उसे ध्यान कहा जाता है। क्रियायोग की साधना में सर्वप्रथम ध्यान को शक्तिशाली बनाना चाहिए। ध्यान को शक्तिशाली बनाने के लिए श्रद्धा और निष्ठा की आवश्यकता पड़ती है। श्रद्धा और निष्ठा सम्पन्न साधक साधना करते हुए सफलता प्राप्त करने अथवा अनुभूति प्राप्त करने के लिए उतावली नहीं करता है, वह तन्मय होकर एकनिष्ठ होकर साधना में रत रहता है और अभीष्ट प्राप्त करता है। योग व्यवसाय की वस्तु नहीं है। इसमें सौदेबाजी के लिए कोई स्थान नहीं है।

1. ध्यान को शक्तिशाली बनाने के लिए साधक को ध्यानस्थ होकर इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए—

"विश्व के अणु-अणु में, कण-कण में भगवान् का वास है। प्रत्येक तत्त्व भगवान् के गुणों को प्रकट करता है। अग्नि में जो उष्णता है, जल में जो शीतलता है, धरती में जो धारणा शक्ति है, वायु में जो वेग है, आकाश की जो अनन्तता है, उसमें भगवान् की भगवत्ता व्याप्त है। वही सूर्य-चन्द्र बनकर समस्त विश्व को प्रकाश देता है, वह विद्युत् बनकर चमकता है, वही समुद्र बनकर गर्जन करता है, वह वन, पर्वत, अरण्य का प्राकृतिक सौन्दर्य है। प्राणिमात्र के हृदय की धड़कन परमात्मा है।"

इस तरह भगवान् की विभूतियों का चिन्तन करते रहने से ध्यान शक्तिशाली बनता है।

इस प्रकार के शक्तिवर्द्धक ध्यान करने से जीवन को शक्ति और स्फूर्ति मिलती है। हताशा, निराशा दुर्बलता, उदासीनता दूर हो जाती है। रग-रग में उत्साह और स्फूर्ति का संचार होने लगता है। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ने पर साधक अपनी संकुचित सत्ता को भूलकर परमात्मा की विराट् सत्ता में लीन हो जाता है। शक्तिवर्द्धक ध्यान की साधना में गीता के दसवें अध्याय का विभूति वर्णन प्रकरण बहुत ही सहायक सिद्ध हुआ है। इस ध्यान का नियम-संयम पूर्वक अभ्यास करने से संस्कारों का उदय होता है। अकस्मात् परिवर्तन हो जाता है। जीवन को प्रकाश मिलता है। आत्मबल सङ्कल्प बल की वृद्धि होती है। साधकों के लाभार्थ यह बतला देना आवश्यक समझता हूँ कि मैं इस शक्तिवर्द्धक ध्यान का अभ्यास करते समय अथर्ववेद काण्ड 7 सूक्त 87 के निम्नाङ्कित मंत्र का अर्थानुसन्धान करते हुए चिन्तन किया करता था—

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
या इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥

मेरे लिए यह मंत्र बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुआ है। इस ध्यान को प्रारम्भ करने से पूर्व और ध्यान समाप्त होने पर मैं निम्नाङ्कित वैदिक प्रार्थना किया करता था—

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतंगमय

यह प्रार्थना करते समय मेरे शरीर में हलचल होने लगती थी, रोम-रोम स्पन्दन और हर्ष से भर जाते थे। ज्योतिर्मय ब्रह्मकी अनुभूति होने लगती थी। मुझमें एकाग्रता, तन्मयता अपने आप आ जाती थी और अथर्ववेद के उक्त मंत्र का चिन्तन करते हुए मैं ध्यानस्थ हो जाता था। मेरा अनुभव है कि सङ्कल्प शक्ति बढ़ाने के लिए यह ध्यान अद्वितीय साधन है।

2. जो व्यक्ति सन्देह, निराशा से घिरे रहते हैं, जो भविष्य को अन्धकारमय देखते हैं, उनके लिए **महाज्योति** का ध्यान सद्यःफलदायक सिद्ध होगा। ध्यान करते समय गीता के निम्नाङ्कित श्लोक का अर्थानुसन्धान पूर्वक चिन्तन करना चाहिए—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥

इस श्लोक का चिन्तन करते हुए जीवन के कण-कण में परमात्म ज्योति का आवाहन करना चाहिए। ऐसा करने से एक दिव्य अनुभूति होती है। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार सभी एकाग्र हो जाते हैं। हृदय आलोक से भर जाता है। ऐसी स्थिति आ जाती है कि दिन-रात, उठते-बैठते, सोते जागते अनुभूति हुआ करती है।

3. जो व्यक्ति शरीर और मन से दुर्बल होते हैं, जरा-सी बात में घबड़ा जाते हैं। क्या करें, क्या न करें की दुबिधा से ग्रस्त रहते हैं, उन्हें महाशक्ति का ध्यान करना चाहिए। महाशक्ति के ध्यान के लिए अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड का सत्रहवाँ सूक्त बहुत ही उपयोगी है। तीन दिन के अभ्यास से ही तन-मन स्फूर्ति से भर जाते हैं। यह ध्यान जीवन में ओज और बल का संचार करता है—

ओजोऽयोजो मे दाः स्वाहा।
सहोऽसिसहो मे दाः स्वाहा।
बलमसि बल मे दाः स्वाहा।
आयुरस्यायु मे दाः स्वाहा।

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा।
चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा।
परिपाणिमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा।

जीवन की बाजी हारे हुए हताश-निराश व्यक्तियों के लिए यह ध्यान परमोपयोगी है।

4. जो आदमी उत्तम विचार रखते हैं, नैतिक आचरण सम्पन्न होते हैं, फिर भी उन्हें अपने कार्यक्षेत्र में श्रेय नहीं मिल पाता है। होम करते हाथ जलता है। ऐसे लोगों को **श्रेयस् ध्यान** करना चाहिए। ध्यान करने से पूर्व तेजस्वी, होने की भावना कर नीचे लिखे मंत्र का अर्थानुसन्धान करते हुए ज्योतिर्ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए—

ॐ सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम।

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम।

5. जो व्यक्ति आधि-व्याधि से ग्रस्त रहते हैं, सुख-शान्ति उनसे कोसों दूर रहती है। शरीर और मन से रुग्ण ऐसे लोगों को पूर्णता का ध्यान करना चाहिए। ध्यान के समय ऐसी भावना करनी चाहिए कि मैं ईश्वर का अंश हूँ। मुझमें भगवान् का वास है। मैं आनन्दमय हूँ, आरोग्य हूँ। मैं पूर्ण हूँ। बाहरी प्रभावों से मेरी शक्ति कुण्ठित हो गई है, मैं उन बाहरी प्रभावों से विघ्नों, बाधाओं से मुक्त हो रहा हूँ। मैं पूर्ण हूँ। इस प्रकार की भावना का तात्पर्य है, परमात्मा के गुणों का ध्यान।

जब आदमी अपूर्ण बुद्धि का हो जाता है, तो उसे धन हानि, जन हानि, यश हानि आदि अनेक कष्ट घेर लेते हैं। पूर्णता का ध्यान करने से वह इन सब प्रकार के कष्टों को दूर कर डालता है। इसका इस प्रकार ध्यान करना चाहिए—

परमात्मा पूर्ण है
मैं भी पूर्ण हूँ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

उपर्युक्त ध्यानों के अलावा क्रियायोग की साधना में कल्पतरु समान एक ध्यान है **शान्तिध्यान** यह ध्यान आध्यात्मिक आशीर्वादों की वृष्टि करता है। यह इतना शक्तिशाली है, इतना तेजस्वी है कि इस ध्यान के सिद्ध हो जाने पर सारे संघर्षो का अन्त हो जाता है, सारी विपत्तियाँ दूर हो जाती है। सारी दुविधाएँ, सारे विकल्प, समस्त अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। एक निर्मल व्यक्तित्व का उदय होता है। इस ध्यान में भावना मुख्य है। जिसका मन स्थिर, एकाग्र नहीं होता उसे बुद्धि प्राप्त नहीं होती। मानसिक एकाग्रता के बिना भावना का विकास नहीं होता। भावना के बिना शान्ति नहीं प्राप्त होती और शान्ति नहीं तो सुख कहाँ? अशान्तस्य कुतः सुखम्।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो बाहर से धार्मिक-आचार सम्पन्न एवं भक्ति-भावनायुक्त दिखाई पड़ते हैं, किन्तु उनका चित्त निर्मल नहीं होता है। दुर्वनासनाएँ उनके हृदय को अपवित्र बनायी रखती हैं। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि आध्यात्मिक साधना की पहली शर्त चित्त की निर्मलता है। प्रत्येक साधक को पहले चित्त को निर्मल बनाने का प्रयास करना चाहिए तदनन्तर साधना में निरत होना चाहिए।

चित्त को निर्मल बनाने के लिए नीचे लिखा ध्यान बहुत उपयोगी है—

सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदम्, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तो सदायमात्मा विदधातु देव।।

इस प्रार्थना का अर्थानुसन्धान करते हुए भावनापूर्वक नित्य ध्यान करने से चित्त निर्मल बन जाता है और मन विषय-वासनाओं से रहित हो जाता है।

क्रिया योग की साधना में मानसिक विचारों, मनोवृत्तियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। बताया गया है कि समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड परमात्मा की मानसिक सृष्टि है। उस मानसिक सृष्टि के अन्तर्गत मनुष्य भी है। अतः साधारण से साधारण मनुष्य भी जिस प्रकार का विश्वास तथा विचार रखता है, वह वैसा ही हो जाता है। जो व्यक्ति अपने को दीन, हीन, दुर्बल और असहाय समझते है, वह दीन-हीन, दुर्बल न होते हुए भी दुर्बल, असहाय और दीन बन जाते हैं और जो व्यक्ति निरन्तर शक्ति की अनुभूति रखते हैं, वे आत्मबल सम्पन्न शक्तिशाली बनते हैं और व्यक्ति परमात्मा का चिन्तन किया कते हैं, अपने हर कार्य-व्यापार, विषय एवं वस्तु को भगवच्चरणाविन्दों

में अर्पित कर अपना सर्वस्व हरि के साथ जोड़ देते हैं तो उन्हें हर कार्य में, हर विषय में, हर वस्तु में दैवी अनुभूति का साक्षात्कार होने लगता है। उनमें आत्मशक्ति, सङ्कल्पशक्ति, विवेक और आनन्द का उत्तरोत्तर विकास होता है। इसी को गीता में यो यच्छ्रद्धः स एव सः कहा गया है। अर्थात् व्यक्ति का जैसा विश्वास होता है, वह वैसा ही बन जाता है।

भावना में महती शक्ति निहित रहती है। भावना के द्वारा असाध्य से असाध्य रोग दूर किए जा सकते हैं। भावना के द्वारा हम अपने शरीर और मन को शक्तिशाली और स्वस्थ बना सकते हैं। भावना से हम अपने अन्दर भले-बुरे संस्कारों का निर्माण कर सकते हैं।

साधक को यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि हर कार्य में बुद्धि और मन की एकता अनिवार्य है। जब हम कोई कार्य केवल बुद्धि बल से करते हैं, मन का सहयोग नहीं लेते हैं तो वह काम अपूर्ण और नीरस होता है। बुद्धि को मन से शक्ति मिला करती है। जब मन की उपेक्षा कर बुद्धि से काम लिया जाता है तब बुद्धि को शक्ति न मिलने के कारण मामूली-सी समस्या पहाड़ बन जाती है, जरा-सी अड़चन भयंकर दिखने लगती है और यदि मन का सहयोग प्राप्त हो जाता है तो बुद्धि सूक्ष्म और शक्तिशाली बन जाती है। भावना बलवती बनकर प्रतिभा को विकसित करती है। वह प्रतिभा साधक या योगी को अन्तर्दृष्टि देती है, वह प्रतिभा क्रियायोग बनकर हर कार्य में सफलता प्रदान करती है।

भावना है क्या? वस्तुतः उसे कैसे ग्रहण किया जाता है—यह एक जिज्ञासा है। भावना का अर्थ है वस्तु या व्यक्ति में विशिष्ट गुण या संस्कार उत्पन्न करना। जैसे चिकित्सक किसी औषधि को शक्तिशाली और गुण सम्पन्न बनाने के लिए किसी अन्य औषधि के रस से भावना देकर उसे अत्यन्त शक्तिशाली बना देता है, उसी प्रकार व्यक्ति अपने मन को जिस प्रकार के विचारों द्वारा भावित करता है—उनका बार-बार चिन्तन करता है वे विचार उस व्यक्ति में आ जाते हैं। गीता में बताया गया है 'कि जब मन और बुद्धि परस्पर संघर्ष छोड़कर एक लक्ष्य की ओर प्रवृत्त हो जाते है तो उसे भावना कहते हैं।' भावना से ही व्यक्तित्व बनता है।

लोक और वेद में जो काम बुरा माना गया है और हमारा मन उस बुराई की ओर बरबस प्रवृत्त होता है, तो मन को उस दिशा में हटाने के लिए हमें उस बुराई का बार-बार चिन्तन करना चाहिए। कुछ देर तक अच्छाई और बुराई के बीच संघर्ष चलता रहेगा। धीरे-धीरे मन का वेग घटता जाएगा और वह बुद्धि के साथ सहकार स्थापित कर लेगा। इस तरह से नित्य अभ्यास करते रहने से एक दिन ऐसा आएगा कि मन अपने आप बुद्धि के साथ हो जाएगा। मन और बुद्धि दोनों मिलकर कार्य करने लगेंगे फिर बुद्धि जिसे अच्छा कहेगी मन उसी में सुख का अनुभव करेगा। बुद्धि और मन को एक दिशा में, एक लक्ष्य में, एक ध्येय में लाने के लिए ध्यान से बढ़कर कोई और उपाय नहीं है। ध्यान का अभ्यास ज्यों-ज्यों बढ़ता है वैसे ही मन और बुद्धि में एकरूपता बढ़ती है और साधक का व्यक्तित्व शक्तिशाली बनता है।

जब मन दूषित विचारों से घिर जाता है, तो उसे पवित्र बनाने में ध्यान सहायक होता है। ऐसा कोई रोग नहीं है जो ध्यान द्वारा दूर न किया जा सके। ध्यान से हृदय निर्मल बनता है। सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है और विवेक बुद्धि जाग्रत होतीं है। समस्त दुःखों और संकटों से छुटकारा दिलाने में ध्यान ही समर्थ है। ध्यान से मन अन्तर्मुखी बनता है, उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है। भौतिक अस्तित्व की चिन्ता मिट जाती है। जब तक व्यक्ति के मन में भौतिक अस्तित्व की चिन्ता रहती है तब तक उसे शान्ति नहीं प्राप्त होती।

ध्यान से लाभ तभी प्राप्त होता है जब हृदय पवित्र और शुद्ध हो। जिसका हृदय जितना अधिक निर्मल होगा उसे उतनी ही सफलता प्राप्त होती है। ध्यान के द्वारा पवित्र, ज्ञानरूपी जल से भरे हुए, राग-द्वेषरूपी मल दूर करने वाले मानस तीर्थ में जो साधक स्नान करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है। जब जीवन शुद्ध होता है तभी हृदय निर्मल होता है। जीवन में जब पवित्रता आ जाती है तब संकुचित भावनाएँ और विकल्प नष्ट हो जाते हैं। गीता में हृदय को पवित्र बनाने के लिए यज्ञ, दान और तप तीन क्रियाएँ बताई गई है। यज्ञ का अर्थ है त्याग। साधक को विश्व का संचालन करने वाली शक्तियों को लक्ष्य में रखकर कुछ-न-कुछ त्याग करते रहना चाहिए। साधक अपने को परमात्मा के विशाल परिवार का सदस्य समझकर सबके लिए कल्याणकारी कामना करे।

दान का अर्थ है दूसरों की सहायता करना। दान से, हृदय उदार बनता है। उदारता से व्यक्तित्व के अस्तित्व का विस्तार होता है। बदले में कुछ प्राप्त करने की आकांक्षा का विलय होता है। जिन भावनाओं, विचारों और क्रियाओं से आत्मशुद्धि होती है उसे तप कहा जाता है। शारीरिक वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के तप है।

गुरु, देवता के प्रति गहरी आस्था, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप है।

सत्य और प्रियवचन बोलना। किसी को पीड़ा न पहुँचाने वाली वाणी, स्वाध्याय और शास्त्रों का अभ्यास वाचिक तप है।

आत्मसंयम, विचारों की पवित्रता, मन की प्रसन्नता, कोमलता और शान्ति मानसिक तप है।

ध्यान के प्रकार—ध्यान तीन प्रकार का होता है, पदस्थ ध्यान, पिण्डस्थ ध्यान और रूपस्थ ध्यान। पदस्थ ध्यान का अर्थ है मन्त्र की साधना। यह साधना जप द्वारा की जाती है। पिण्डस्थ ध्यान का मतलब है अपने ही शरीर के विभिन्न अङ्गों पर मन को एकाग्र करना। पदस्थ ध्यान में साधक किसी मन्त्र का जप करते हुए दैवी शक्ति का चिन्तन करता है। चिन्तन करते हुए उसे अनुभव होता है कि उसके शरीर में किसी देवता का अथवा मन्त्र के अधिष्ठात देवता की शक्ति का संचार हो रहा है। उस समय साधक के मन में एक दिव्य स्फूर्ति का संचार होने लगता है। धीरे-धीरे उसके व्यक्तित्व में परिवर्तन होने लगता है। उसकी समस्त दुर्बलताएँ समाप्त हो जाती हैं। पिण्डस्थ ध्यान की साधना में शरीर विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। पिण्डस्थ ध्यान में पञ्चकोशों का ध्यान किया जाता है। कोश या कोष का अर्थ यहाँ पर आवरण है। हमारी आत्मा पाँच केशों के घेरे के अन्दर निवास करती है। सबसे ऊपर का आवरण स्थूल शरीर है, जिसे अन्नमय कोश कहा जाता है। उसके नीचे पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, पाँच कर्म इन्द्रियाँ, पाँच प्राण इन पन्द्रह तत्त्वों से बना हुआ प्राणमय कोश है। इसी शरीर में सङ्कल्प, विकल्प और इच्छाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं। प्राणमय, कोश के अन्दर विज्ञानमय कोश है। इसे बुद्धि भी कहा जाता है। इस शरीर द्वारा हम भला-भुरा सोचा करते हैं। विज्ञानमय कोश के अन्दर आनन्दमय कोश है। सोते समय हमें ज

अनुभूति होती है, उस समय जो चेतना काम करती रहती है, वही आनन्दमय कोश है। स्थूल शरीर से लेकर आनन्दमय कोश तक जब साधना पूरी होती है तो साधक शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

रूपस्थ ध्यान का तात्पर्य किसी देवी-देवता की प्रतिमा का ध्यान करना है। रूपस्थ ध्यान के लिए दृढ़ मनोबल की आवश्यकता होती है। यदि साधक का मनोबल दृढ़ होता है तो उसकी सारी कामनाएँ इस ध्यान द्वारा पूरी हो जाती है। जब हम पदस्थ, पिण्डस्थ और रूपस्थ ध्यान की विधियों को क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं—

पदस्थध्यान—मन्त्र शब्द का अर्थ है अक्षर या शब्द विशेष, जिसका जप करने से मन्त्राधिष्ठातृ देवता प्रकट हो जाते हैं। मन्त्र मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—1. बीजमन्त्र, 2. स्तुतिमन्त्र। ह्रीं, क्लीं, ऐं, श्रीं आदि ऐसे शब्द हैं जो एक दो या अधिक अक्षरों से मिलकर बनते हैं, जिन्हें बीज कहते हैं। भाषा की दृष्टि से बीजाक्षरों का कोई अर्थ नहीं होता। वे विभिन्न देवी-देवताओं के संकेत होते हैं। जैसे ऐं कहने से सरस्वती, ह्रौं कहने से महालक्ष्मी, क्लीं कहने से महाकाली, गं कहने से गणपति या गणेश और गु कहने से गुरु का बोध होता है। बीजाक्षरों का सम्बन्ध शक्ति-विशेष के साथ जुड़ा रहता है। इनके अन्दर गूढ़, रहस्य अर्थ निहित रहता है। बीजाक्षरों का अर्थ व्याकरण की व्युत्पत्ति से नहीं निकाला जा सकता। मन्त्रों और बीजाक्षरों के रूप में चिदात्मा की शक्तियाँ ही हैं। परब्रह्म परमात्मा ही शब्द ब्रह्म या सगुण ब्रह्म के रूप में जीवात्मा में निवास करता है। मन्त्र उसी का शरीर है। कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्म का ही रूप है जो हर व्यक्ति में विद्यमान है। इसी शब्द ब्रह्म से वाणी और अर्थ के रूप में समस्त जगत् की सृष्टि होती है, जिसे अक्षरों और शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। यह समस्त विश्व शब्द रूप है।

मन्त्रों की भाषा स्थिर और शाश्वत होती है। प्रत्येक मन्त्र में एक निश्चित क्रम से अक्षर-विन्यास होता है। इष्टफल की प्राप्ति के लिए मन्त्र का उच्चारण वर्ण और स्वर से करना चाहिए। मन्त्रों का अनुवाद नहीं किया जाना चाहिए। अनुवाद करने पर मन्त्र मन्त्र नहीं रहता।

जब साधक विधि पूर्वक मन्त्र का उच्चारण करता है तो बार-बार उच्चारण करने से वह संस्कार बन जाता है और अन्य ध्वनियों के संस्कार

लुप्त हो जाते हैं। इसका फल यह होता है कि आत्मा से देवता का भेद करने वाले आवरण हट जाते हैं और साधक देवता रूप हो जाता है।

क्रियायोग का यह सिद्धान्त है कि मन को जब किसी वस्तु पर एकाग्र किया जाता है तो वह उसके तद्रूप हो जाता है। जब साधक मन्त्र के वर्णों के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तो बाह्य विषयों का प्रभाव समाप्त हो जाता है, जब स्थिति में कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर षट् चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार चक्र तक पहुँच जाती है।

प्रत्येक मन्त्र में दो शक्तियाँ वाच्य और वाचक होती हैं। मन्त्र वाचक शक्ति है और मन्त्राधिष्ठित देवता वाच्य शक्ति मन्त्र का जीवन है और वाचक शक्ति शरीर जो जीवन को धारण करता है। साधक को चाहिए मन्त्र सिद्धि के लिए अभीष्ट सिद्धि के लिए मन्त्र का जाप मन्त्र की वाच्य-वाचक शक्तियों को हृदयङ्गम करके करे। चेतनाहीन मन्त्र का जप निरर्थ बन जाता है।

मन्त्र के उच्चारण को जप कहा जाता है। जप तीन प्रकार का होता है—

1. वाचिक मन्त्र का उच्चारण इतने जोर से किया जाए कि वह कानों में सुनाई पड़े। यह जप बाह्य उच्चारण से होता है।

2. उपांशु—इस जप में जिह्वा और ओष्ठ हिलते हैं। बाह्य उच्चारण नहीं होता।

3. मानस—ओंठ, जीभ को हिलाए बिना मन-ही-मन मन्त्र को दोहराना मानस जप है।

यह सर्वश्रेष्ठ जप होता है। इसमें न नाद होता है और न श्वास। इस जप में साधक का ध्यान केवल मन्त्र के अर्थ पर रहता है, जब कि वाचक जप में साधक का ध्यान ध्वनि और उच्चारण पर रहता है और उपांशु जप में जिह्वा और ओष्ठों के फड़कने में रहता है।

मन्त्र-जप की विधि

स्थान और आसन की पवित्रता तथा शारीरिक और मानसिक पवित्रता जपकाल में अनिवार्य मानी गई है। विभिन्न प्रयोजनों की पूर्त्ति के लिए विभिन्न मन्त्रों की जप संख्या भी हजार, ग्यारह सौ, इक्कीस सौ, लाख सवा लाख करोड़ आदि हुआ करती है किन्तु सामान्यतया 108 बार मन्त्र का संख्या का जितना महत्त्व है उतना ही इस संख्या में निहित रहस्य भी महत्त्वपूर्ण है।

108 संख्या का रहस्य—इस संख्या में 1, 0, 8 तीन अङ्क हैं। इन तीनों अङ्कों में निहित गूढ़ार्थ इस प्रकार है—

1. एक अङ्क व्यापक, एक ब्रह्म, अविनाशी का बोधक है।

o शून्य अङ्क का गूढ़ रहस्य है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

8 आठ अङ्क माया का द्योतक है। यदि आठ के पहाड़ा को गुणा करें तो गुणन फल जोड़ने पर योग घटता, बढ़ता रहता है। यही हाल माया का है, वह निरन्तर घटती, बढ़ती रहती है किन्तु जहाँ ब्रह्मरूप अङ्क 1 और पूर्णता का प्रतीक शून्य आया, वहीं माया तिरोहित हो जाती है। जैसे—

$8 \times 1 = 8$
$8 \times 2 = 16 = 1 + 6 = 7$
$8 \times 3 = 24 = 2 + 4 = 6$
$8 \times 4 - 32 = 3 + 2 = 5$
$8 \times 5 = 40 = 4 + 0 = 4$
$8 \times 6 = 48 = 4 + 8 = 12 = 1 + 2 = 3$
$8 \times 7 = 56 = 5 + 6 + 11 = 1 + 1 = 2$
$8 \times 8 = 64 = 6 + 4 = 10 = 1 + 0 = 1$
$8 \times 9 = 72 = 7 + 2 = 9$
$8 \times 10 = 80 = 8 + 0 = 8$

इसी तरह 108 संख्या को यदि जोड़ा जाए तो $1 + 0 + 8 = 9$ परिणाम आता है और यदि 9 के पहाड़ा का गुणनफल जोड़ा जाए तो 9 ही रहेगा। इसी प्रकार ब्रह्म न घटता है, न बढ़ता है। आद्याशक्ति एवं ब्रह्म—'सीताराम', 'राधाकृष्ण' नाम का मूल्याङ्कन बीजगणित के नियम से करें तो परिणाम 108 ही आएगा। सीता और राधा नाम शक्तिस्वरूप है और राम तथा कृष्ण ब्रह्मस्वरूप हैं। सीताराम और राधाकृष्ण का वर्ण क्रम से मान निकाला जाए तो परिणाम 108 ही निकलता है। जैसे—

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	ऋ	ॠ	अं	अः
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ				
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10				

ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
11	12	13	14	15	16	17	18	19	20
प	फ	ब	भ	म	य	र	ल	व	श
21	22	23	24	25	26	27	28	28	30
ष	स	ह	क्ष	त्र	ज्ञ				
31	32	33	34	35	36				

इस वर्णक्रम के अनुसार सीताराम, राधाकृष्ण के वर्णों का मान निकालें तो परिणाम यह निकलेगा—

सीता-राम = स + ई + त + आ + र + आ + म्

32 + 4 +16 + 2 +27 + 2 +25 = 54 + 54 = 108

इसी प्रकार राधाकृष्ण का मान 50 + 58 होता है और परिणाम 50 + 58 = 108 निकलता है।

इस भाव और गूढ़ रहस्य को हृदयङ्गम कर गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में लिखा है—

सियाराममय जब जग जानी।
करहुँ प्रनाम जोरि जुगपानी।।

तात्पर्य यह कि 108 संख्या आदि शक्ति और ब्रह्म दोनों का बोध कराती है।

जप में अर्थ की भावना—क्रिया योग में जप के साथ मन्त्र के अर्थ की भावना पर जोर दिया गया है। अर्थ की भावना करने से जपकाल में मन्त्र के शब्द और अर्थ में जीवित सम्बन्ध स्थापित होता है। प्रश्न उठता है कि परमात्मा का रूप क्या है? जप करते समय भावना में भगवान् के किस रूप का ध्यान करना चाहिए। योगियों, महासिद्धों ने इसके उत्तर में बताया है कि परमात्मा का स्वतः कोई रूप नहीं है। बल्कि वह समस्त रूपों में प्रकट होता है। चराचर जगत् में जहाँ कहीं विशेषता की विशिष्ट प्रकार का सौन्दर्य दिखाई देता हो, उसे ईश्वर का अंश समझना चाहिए। सारी अभिव्यक्तियाँ, भगवान् की ही छवि हैं। उनमें से अपनी इच्छानुसार किसी भी रूप का ध्यान किया जा सकता है। शर्त यह है कि जिस अभिव्यक्ति को लिया जाए, उसी पर स्थिर रहना चाहिए। ध्यान के रूप को बदलने से, जिस मन्त्र का जप किया

जाता है, उस मन्त्र की चेतना प्रसुप्त हो जाती है और ध्यान का रूप भी विलीन अथवा धुँधला हो जाता है।

भावना मन के अन्य संस्कारों को दूरकर एकनिष्ठ और एकाग्र बनाती है। हीन भावना, निराशा, कायरता को दूर करती है। भावना से मन और बुद्धि का परस्पर द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। अशान्ति दूर होती है। बुरे संस्कार नष्ट हो जाते हैं और शुभ संस्कारों का उदय होता है। जप में शब्दों का उच्चारण किया जाता है और भावना में कठिनाई पड़ती है। इस कठिनाई को दूर करने का उपाय योगियों ने यह बताय है कि स्वाध्याय के द्वारा योग पर पहुँच जाना चाहिए और योग के बाद स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय और योग इन दोनों के मेल से परमात्मा अथवा इष्ट देवता प्रकट होते हैं। यहाँ पर स्वाध्याय और जप पारिभाषिक शब्द हैं। स्वाध्याय का अर्थ है जप और योग का अर्थ है एकाग्रता। जप और एकाग्रता का अभ्यास से प्रारम्भ में बारी-बारी से करना चाहिए। तल्लीन होकर जप करने से मन एकाग्र हो जाता है। जब समाप्त करने के बाद एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए। एकाग्रता का अभ्यास करते समय जब मन भटकने लगे तो फिर जप प्रारम्भ कर देना चाहिए।

मन्त्र और उनके ध्यान—उपर्युक्त ढंग से जप और एकाग्रता का अभ्यास हो जाने के बाद मन्त्र और उसका ध्यान करना चाहिए। पदस्थ ध्यान में ॐ का बहुत बड़ा महत्त्व है। कठोपनिषद् कथन है कि सब वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं। सब तप जिस पद की घोषणा करते हैं, जिस पद की कामना से मोक्षार्थी लोग ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, वह पद ॐ है। यही अक्षरब्रह्म है, यह परब्रह्म है। इसको जान लेने से मनुष्य जो कुछ चाहता है, वही उसे मिल जाता है। यही सर्वोत्तम आलम्बन है। यही सबका अन्तिम आश्रयस्थल है। इस आलम्बन को, आश्रय को भली-भाँति जानकर साधक ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है।

ॐ पद परमात्मा का वाचक है। इसी को 'प्रणव' कहा जाता है। जिससे परमात्मा की विशेष प्रकार से स्तुति की जाती है वह प्रणव है—प्रणूयते अनेनेति प्रणवः। ॐ का जप करते समय ॐ के इस अर्थ का चिन्तन करते

रहना चाहिए। अर्थ-चिन्तन के बिना जप निरर्थक होता है। प्रारम्भ में ३ॐ का जप ध्वनिपूर्वक किया जाता है। धीरे-धीरे जब ३ॐ अर्थ हृदयङ्गम हो जाता है तो वाचिक जप मानसिक जप में बदल जाता है और मानसिक जप परिपक्व हो जाने पर समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

गायत्री मन्त्र का ध्यान—वैदिक साहित्य में गायत्री एक छन्द का नाम है। गायनात् त्रायते इति गायत्री इस व्युत्पत्ति के अनुसार गायत्री वह छन्द है जो गान (जप) किये जाने पर साधक की रक्षा करता है। गायत्री मन्त्र इस प्रकार है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्। गायत्री मन्त्र में 24 अक्षर होते हैं। इस मंत्र के प्रारम्भ में भूर्भुवः स्वः और अनुश्रुति के रूप में ३ॐ को लगाया जाता है। तब पूरा मन्त्र बनता है—३ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियोयोनः प्रचोदयात्

24 अक्षर वाले इस गायत्री मन्त्र में 3 पाद होते हैं—1. तत्सवितुर्वरेण्यं 2. भर्गोदेवस्य धीमहि 3. धियोयोनः प्रचोदयात्। गायत्री मन्त्र में पहले ३ॐ और भूर्भुवः स्वः तीन व्याहृतियाँ लगाकर जप किया जाता है। गायत्री मन्त्र में सविता देवता की स्तुति की गई है, इसलिए इस मन्त्र को सावित्री कहा जाता है। यही असली नाम है। सावित्री मन्त्र गायत्री छन्द में होने के कारण गायत्री कहा जाने लगा। सावित्री मन्त्र के आदि में ३ॐ शब्द से परमात्मा का बोध कराया गया है। सृष्टि का प्रारम्भ ओइम् से होता है। इसीलिए ३ॐ को शब्द ब्रह्म भी कहा जाता है। ३ॐ अन्तर्नाद है जो निरन्तर चला करता है। यही अन्तर्नाद बाह्य रूप लेकर वाणी बन जाता है। ३ॐ के बाद भूः भुवः स्वः तीन व्याहृतियाँ सावित्री मन्त्र के प्रारम्भ में लगाई जाती है। व्याहृतियों का शाब्दिक अर्थ तीन लोक है—पृथिवी (भूः) अन्तरिक्ष (भुवः) स्वर्ग (सः)। सविता देवता अपनी प्रभा द्वारा इन तीनों लोकों को व्याप्त कर लेता है। सावित्री मन्त्र का साधक जीवनदाता सविता (सूर्य) देवता के तेज का ध्यान करते हुए प्रार्थना करता है—

वह सविता देवता जिसके तेज का हम ध्यान करते हैं, हमारी बुद्धि को प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्रदान करे। सावित्री (गायत्री) मन्त्र का यही सामान्य अर्थ है। इस अर्थ का चिन्तन करते हुए मन्त्र का ध्यान करना चाहिए।

गायत्री मन्त्र का जप प्रतिदिन चार सन्ध्या कालों में किए जाने का विधान है—

1. प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त में, 2. मध्याह्न काल में, 3. सायङ्काल और 4. मध्य रात्रि में। गृहस्थों को त्रिकाल जप करना चाहिए। मध्य रात्रि का जप केवल योगी जन ही किया करते हैं। ॐ और गायत्री मन्त्र के अतिरिक्त साधक अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए अपनी आस्था के अनुसार विविध देवी-देवताओं के मन्त्रों का ध्यान कर सकते हैं। जो किसी सम्प्रदाय विशेष शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, सौर आदि से सम्बद्ध हैं, उन्हें अपने सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार साधना करनी चाहिए।

पिण्डस्थ ध्यान

पदस्थ ध्यान में साधक किसी पद या मन्त्र को लेकर दैवी शक्ति का चिन्तन करता है, किन्तु पिण्डस्थ ध्यान में पिण्ड अर्थात् शरीर के विभिन्न अङ्गों अथवा समस्त शरीर पर मन को एकाग्र किया जाता है। पिण्डस्थ ध्यान में साधक अपने शरीर में ही देवता के वास का अनुभव करता है। वह यह अनुभव करता है कि जिस देवता की वह उपासना करता है, उस देवता की शक्ति उसके शरीर में उतर रही है। देवता के प्रत्येक अङ्ग की शक्ति अपने अङ्ग-अङ्ग में उतरती हुई वह अनुभव करता है। इस प्रकार की साधना साधक के तन-मन को पवित्र बना देती है, और उसमें दिव्य तेज का प्रकाश होने लगता है।

पिण्डस्थ ध्यान की साधना के लिए शरीर विज्ञान का ज्ञान आवश्यक होता है। उपनिषदों में कई प्रकार से शरीर के आन्तरिक रहस्य का बोध कराया गया है। योग और तन्त्र शास्त्र में बहुत विस्तार से शरीर-विज्ञान का रहस्य उद्घाटित हुआ है। गृहस्थ साधकों के लिए यह विज्ञान जटिल है। इसलिए सामान्य साधक के लिए यही मध्यम मार्ग श्रेयस्कर है कि पिण्डस्थ ध्यान करते हुए वह यही चिन्तन करे कि यह अन्तराकाश ही परमात्मा है, जो समस्त पापों से परे है, वृद्धावस्था और मृत्यु उसका स्पर्श भी नहीं करते, शोक-मोह से वह रहित है। शीत, वात, आतप, भूख-प्यास उसे बाधित नहीं करती। वह सत्य सङ्कल्प है। सत्यस्वरूप है।

इस प्रकार परमात्मा के समस्त गुणों का चिन्तन अपने हृदय-स्थान में करता हुआ साधक यह ध्यान करे कि 'मेरे हृदय में ज्योतिर्मय' सर्वशक्तिमान परमात्मा विराजमान है सारी सृष्टि का संचालन उसके संकेत मात्र से होता है, वही सूर्य और चन्द्र को प्रकाश देता है, नक्षत्रों के रूप में वही प्रकाशित हो रहा है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश में उसी के गुण धर्म स्थिर है।

इस प्रकार की भावना करते हुए ध्यान करने से कुछ दिनों में ही साधक विराट् ब्रह्म का दर्शन करने लगता है।

पिण्डस्थ ध्यान की एक दूसरी विधि आनापानस्मृति है। इस ध्यान में श्वास—प्रश्वास की प्रक्रिया बताई गई है। यह ध्यान साध्य है, सरल है। इससे शरीर नीरोग हो जाता है, मन, मस्तिष्क निर्मल बन जाते हैं। शोक, मोह, चिन्ता, भय का लोप हो जाता है। घबराहट, कायरता हीन भावना का लेश नहीं रह जाता है। नई शक्ति, नई स्फूर्ति प्राप्त होती है।

आनापान स्मृति वस्तुतः एक मानसिक क्रिया है। प्राणों (श्वासों) की गति पर मन को स्थिर किया जाता है। इस मानसिक क्रियायोग का अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ता है; वैसे ही सूक्ष्मता की वृद्धि होती है। हाँ, इस योग के अभ्यास के लिए एक शर्त है—बुद्धि की निर्मलता। स्मृति और बुद्धि जितनी निर्मल होगी, प्राणों का निरीक्षण उतना ही स्पष्ट होगा। इस योग मे चञ्चलता और बुद्धि की कलुषता बाधक होती है।

आनापान स्मृति योग की साधना के लिए पवित्र, एकान्त और खुला वातावरण बहुत उपयोगी माना गया है। पद्मासन लगाकर इस क्रिया की साधना करने से शीघ्र सफलता मिलती है।

साधन की प्रक्रिया—शुद्ध, शान्त स्थान में पद्मासन लगाकर बैठे, तत्पश्चात् श्वास की गति पर ध्यान जमाए। श्वास को अपनी स्वाभाविक गति से चलने देना चाहिए। उससे छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिए। साधक केवल उसका निरीक्षण करता रहे। श्वास कैसे उठा, कहाँ से उठा, किस प्रकार बाहर निकला, फिर किस प्रकार भीतर प्रविष्ट हुआ—इन बातों का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए। इस क्रिया को करते समय केवल श्वास-प्रश्वास पर ध्यान रखना चाहिए। मन में किसी अन्य भावना को नहीं देना चाहिए। साधक जब दीर्घ श्वास छोड़ता है तो वह अनुभव करता है कि मैं

दीर्घश्वास छोड़ रहा हूँ, और जब वह दीर्घश्वास लेता है तो अनुभव करता है कि मैं दीर्घश्वास ले रहा हूँ। जब वह लघु श्वास छोड़ता है अथवा लघुश्वास लेता है तो अनुभव करता है कि मैं लघुश्वास छोड़ रहा हूँ या ले रहा हूँ।

आश्वास और प्रश्वास की दीर्घता या ह्रस्वता की जानकारी उन श्वासों के लेने और छोड़ने के समय जानी जाती है। जो साधक धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हैं, उनका आश्वास-प्रश्वास दीर्घकालिक होता है और जो जल्दी-जल्दी श्वास लेते हैं, छोड़ते हैं, उनका श्वास-प्रश्वास अल्पकालिक होता है।

इस प्रकार श्वासों पर भावना करने से रोग, दोष, ताप, सन्ताप और भय तथा कायरता दूर होती है। शरीर, मन और बुद्धि के निर्मल बन जाने पर साधक उत्तरोत्तर सूक्ष्म आश्वासन, प्रश्वास और उनकी क्रियाओं को, दीर्घकाल तक करता है और श्वास-प्रश्वास सूक्ष्म हो जाते हैं।

इस आनापान स्मृतियोग से साधक की काया का संस्कार हो जाता है और स्थूल शरीर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बन जाता है।

प्रत्येक साधक को यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वाभाविक गति से श्वास चलता रहे। उसे दीर्घ या ह्रस्व बनाने की चेष्टा न करे। श्वास की गति को स्वाभाविक बनाने का उपाय यह है कि मन को श्वासों के साथ लगा दिया जाए। श्वास जैसा चले चलने देना चाहिए, उसके साथ छेड़खानी नहीं करनी चाहिए। साधक का काम सिर्फ इतना है कि वह यह देखता रहे कि श्वास किस रास्ते से भीतर जा रहा है और कहाँ तक जाता है तथा फिर लौटकर किस रास्ते से बाहर निकलता है और कहाँ तक बाहर जाता है। साधक धैर्यपूर्वक श्वासों की गति का निरीक्षण करता रहे। जल्दबाजी न करे, घबड़ाये नहीं।

आनापास्मृति की यह क्रिया शवासन से लेटकर भी की जाती है। पद्मासन की अपेक्षा शवासन सरल पद्धति है।

पिण्डस्थ ध्यान षडचक्रों और महाभूतों की साधना और धारणा से भी किया जाता है, किन्तु यह हठयोग है। सामान्य साधक इनकी साधना करने में बहुत कम सफल होते देखे गए हैं।

न्यासविद्या

पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत न्यास विद्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। न्यास विद्या की साधना से साधक का शरीर प्राणवान्, शक्तिशाली बनता है। अङ्ग-अङ्ग में स्फूर्ति का संचार होता है। यदि कोई व्यक्ति रक्तहीनता, स्नायुदौर्बल्य रोग से आक्रान्त हो तो वह यदि न्यास विद्या की साधना करे तो कुछ ही दिनों में स्वस्थ होकर तेजस्वी, वर्चस्वी बन जाता है।

न्याय का अर्थ है स्थापना। शरीर के विभिन्न अङ्गों पर ईश्वरीय शक्ति अथवा अपने इष्टदेवता की शक्ति की स्थापना को न्यास विद्या कहा जाता है। न्यासविद्या का रहस्य अनुभूति है। साधक जब अपने दोनों हाथों की अंगुलियों से सिर से लेकर पैर तक के सभी अङ्गों का स्पर्श करते हुए यह अनुभव करता है, कि मेरे अङ्ग में परमात्मा शक्ति या मेरे इष्टदेवता की शक्ति का संचार हो रहा है तब उसे प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है।

इस साधना में पद्मासन या सिद्धासन लगाकर बैठना चाहिए। सर्वप्रथम परमात्मा या किसी देवता का आवाहन करना चाहिए। इसके बाद उस देवता को अपने शरीर में प्रतिष्ठापित करने के लिये इस प्रकार ध्यान करना चाहिए कि मेरे सम्पूर्ण शरीर में परमात्मा या इष्टदेवता व्याप्त हो गया है। मेरे सिर में उसका सिर, नेत्रों में उसके नेत्र, भुजाओं में उसकी भुजाएँ, पैरों में उसके पैर, हृदय में उसका हृदय, मस्तक में उसका मस्तक है।

साधक जब इस प्रकार की कल्पना करता है, तो उसका भौतिक स्थूल शरीर दिव्यता प्राप्त करता है। प्रत्येक अङ्ग के साथ उसके इष्ट-देवता का तादात्म्य स्थापित हो जाता है और उसे अपने व्यक्तित्व में अपने इष्टदेवता के व्यक्तित्व की अनुभूति होने लगती है।

न्यास विद्या के अन्तर्गत जीवन्यास, मातृकान्यास, ऋषिन्यास, षडङ्गन्यास, करन्यास, बीजन्यास, अङ्गन्यास और व्यापकन्यास है। इनकी विधियों का विस्तार तन्त्र शास्त्र में मिलता है। न्यासविद्या तान्त्रिक का साधना में प्रमुख स्थान रखती है। न्यासविद्या की साधना भूतशुद्धि द्वारा की जाती है। साधक जब भूतशुद्धि द्वारा अपने अपवित्र, स्थूल शरीर को भस्म कर नया दिव्य शरीर प्राप्त कर लेता है तब वह जीवन्यास करता है।

जीवन्यास—जीवन्यास का अर्थ है परमात्मा या इष्टदेवता को अपने शरीर में प्रतिष्ठापित करना। भूतशुद्धि की प्रक्रिया बहुत गोपनीय है। तन्त्र-ग्रन्थों में जो भूतशुद्धि मन्त्र प्रकाशित है, वह इससे भिन्न है। एक महासिद्ध योगी ने मुझे बताया था कि उन्होंने केवल भूतशुद्धि द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। इस क्रिया की प्रक्रिया इस प्रकार है—

जीवन्यास करता हुआ साधक अपने हृदय पर हाथ रखकर कहता है—'सोऽहं' अर्थात् मैं वही हूँ। ऐसा कहकर साधक परमात्मा के साथ अपनी एकता स्थापित करता है। इसके पश्चात् शरीर के विभिन्न अङ्गों का स्पर्श करके 'ॐ' का उच्चारण करता है और परमात्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ता है। वह ध्यान करता है—"परमात्मा के प्राण ही मेरे प्राण हैं। परमात्मा का जीवन ही मेरा जीवन है। परमात्मा का अस्तित्व ही मेरा अस्तित्व है। परमात्मा का ज्ञान ही मेरा ज्ञान है। परमात्मा का सुख ही मेरा सुख है। मेरी इन्द्रियाँ परमात्मा की विविध शक्तियाँ हैं। मेरे प्राण, मन तथा वाणी में परमात्मा की शक्ति का संचार हो रहा है। परमात्मा ही मेरे कानों को श्रवणशक्ति दे रहा है, वही मेरी आँखों को देखने की शक्ति, नासिका को घ्राणशक्ति, जिह्वा को रसज्ञान की शक्ति तथा समस्त शरीर को स्पर्श की शक्ति दे रहा है। परमात्मा ही मेरी वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहा है, वही मेरी भुजाओं को बल दे रहा है, पैरों में चलने की शक्ति और जननेन्द्रि को आनन्द के उपभोग की शक्ति दे रहा है। वह मेरे अणु-अणु में, कण-कण में व्याप्त है।'

सूक्ष्म ध्यान—पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत सूक्ष्म ध्यान की एक सरल प्रक्रिया है। पद्मासन या सिद्धासन लगाकर एकाग्रचित्त होकर निश्चेष्ट बैठकर आँखें बन्दकर दोनों भौहों के बीच में ॐ की आकृति वाली ज्योति का ध्यान दिया जाता है। कुछ ही दिनों के अभ्यास से साधक को दोनों भौहों के बीच प्रकाश दिखाई देने लगता है।

रूपस्थ ध्यान

प्रत्येक मनुष्य कोई न कोई इच्छा अवश्य रखता है। कोई धन चाहता है कोई यश कोई पद-गौरव, कोई स्त्री सुख, कोई आरोग्यता चाहता है और

कोई प्रभु-भक्ति आदि अनन्त इच्छाएँ मनुष्य में उत्पन्न हुआ करती हैं। क्रियायोग की साधना दृढ़ मनोबल प्रदान करती है, जिससे मनुष्य की सारी इच्छाएँ पूरी हो जाती है। दृढ़ मनोबल प्राप्त करने के लिए साधक को अपना एक लक्ष्य निश्चित करना पड़ता है। अपने स्वभाव और विश्वास के अनुसार लक्ष्य निश्चित किया जा सकता है। ऐसे विश्वासों में मूर्ति पूजा भी एक साधन है, जिसके माध्यम से मनोबल दृढ़ किया जाता है। मूर्ति का ध्यान रूपस्थ ध्यान में विशिष्ट स्थान रखता है। साधक मूर्ति के अधिष्ठित देवता पर जितनी दृढ़ भावना रखकर ध्यान करता है, उतना ही उसका मनोबल बढ़ता है। पत्थर, मिट्टी, काष्ठ की मूर्ति अथवा कागज के चित्र में देवता का वास साधक के मनोभावों पर निर्भर रहता है। जब साधक की इच्छा, भावना साकार बनकर आँखों के सामने घूमने लगती है, तब उसे पूर्ण समझना चाहिए। भक्त अथवा साधक की इच्छा के साकार रूप को 'बिम्ब' कहा जाता है। जैसे कोई कवि प्रकृति का सौन्दर्य वर्णन नायिका के रूप में करने की इच्छा रखकर काव्य-रचना में जब प्रवृत्त होता है तो सर्वप्रथम उसके मस्तिष्क में नायिका के सौन्दर्य का बिम्ब बनकर आता है, उस बिम्ब को ही वह लेखनी द्वारा चित्रित करता है। इसी तरह चित्रकार भी बिम्ब को रङ्गों द्वारा प्रकट करता है। गायक सङ्गीत द्वारा प्रकट करता है। राग-रागनियों के चित्र बिम्ब द्वारा ही निर्मित हुए हैं।

रूपस्थ ध्यान में मूर्ति का बिम्ब जब प्रकट हो तब उस बिम्ब में मनोभावों को केन्द्रित करना चाहिए। यदि मनोभाव पूरी तरह केन्द्रित नहीं होते हैं तो इच्छा की पूर्ति अधूरी होती है। रूपस्थ ध्यान में मूर्तियाँ या चित्र बिम्ब निर्माण करने में सहायक होते हैं। हम देवता की वेदी पर अपनी मनोकामनाएँ रखते हैं और फिर आँखें बन्द कर लेते हैं तब वही मूर्ति बिम्ब के रूप में झलकने लगती है। उस समय हमारी इच्छा देवता का रूप धारण कर लेती है और हमें अपनी इच्छा पूरी होने का विश्वास हो जाता है तब कोई भी बाधा उस विश्वास के सामने टिक नहीं सकती।

विभिन्न देवी-देवता एक महाशक्ति के विभिन्न रूप है। साधना, भक्ति के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शक्ति के अनेक रूप बताये गए हैं। शक्ति के उन रूपों को जाग्रत करने के लिए उनके आकारों की कल्पना की गई है। जैसे विद्या

और ज्ञान के क्षेत्र की देवी सरस्वती मानी गई है। उसके आकार की कल्पना की गई कि यह देवी शुभ्रवसना, कुन्देन्दु तुषारहारधवला है।

इसके एक हाथ में वीणा है, एक हाथ में पुस्तक है और हंस पर आरूढ़ है। सरस्वती का यह रूप प्रतीक के रूप में विद्या को प्रकट करता है। सरस्वती का शुभ्र रूप निष्पक्षता का बोधक है। पुस्तक और वीणा उसके दो गुणों को प्रकट करती है। उसका प्रथम गुण है विज्ञान, जहाँ किसी भी पदार्थ को शुद्ध रूप से जानने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरा गुण उसका कलात्मक सौन्दर्य है, जो वीणा द्वारा प्रकट किया गया है। यही सरस्वती के दो गुण ज्ञान और विज्ञान है। हंस विवेक शक्ति का प्रतीक है। वह दूध और पानी को अलग करने की शक्ति रखता है।

मूर्ति के अतिरिक रूपस्थ ध्यान यन्त्रों तथा प्रतीकों के द्वारा भी किया जाता है। यन्त्र के ध्यान से मन बहुत जल्दी एकाग्र होता है। 'यं' धातु से यन्त्र शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है नियन्त्रित करना। यन्त्र के ध्यान द्वारा मन को एकाग्र करना—एक वैज्ञानिक उपाय है।

प्रतीकों के ध्यान कई प्रकार के प्रतीकों से किया जाता है, जैसे कमल-पुष्प निर्लिप्तता, कोमलता और शीतलता का प्रतीक है। अग्नि-शिखा तेज का प्रतीक है। दीपक ज्योति-अलोक का प्रतीक है और त्रिशूल शत्रु दमन का प्रतीक है।

जब साधक अपने इष्टदेवता का चिन्तन और ध्यान करता है उसको अपने व्यक्तित्व में स्थापित करता है तो साधक में भी उसके इष्ट देवता के गुण प्रकट होने लगते हैं। मूर्ति, प्रतीक आदि साधन उस अभिव्यक्ति के सफल उपाय हैं। परमात्मा शुद्ध, बुद्ध, निर्लेप, निराकार, ज्ञान स्वरूप है, फिर भी भक्तों के कल्याण के लिए भगवान् के रूपों की कल्पना की गई है। हमारे मन में अपार शक्तियों का स्रोत प्रच्छन्न प्रवाहित हैं। देवता के रूप में साकार होकर प्रकट हुई शक्ति मन में छिपी हुई शक्ति को जाग्रत कर देती है।

साधारणतया मन बहुत चञ्चल और उच्छृंखल होता है। वह अनेक प्रकार से सोचता है। क्षण-क्षण में बदलता रहता है। मन की ऐसी चञ्चलता ही उसे कमजोर बनाती है। जब रूपस्थ ध्यान द्वारा मन एकाग्र हो जाता है तो

वह एक निश्चित प्रवाह में बहने लगता है और शक्तिशाली बन जाता है। जितने सिद्ध सन्त, महापुरुष होते हैं, जो भूत, भविष्य वर्तमान की घटनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, उनकी सिद्धि, सफलता का एकमात्र रहस्य उनका दृढ़ मनोबल है।

रूपस्थ ध्यान के द्वारा साधक के व्यक्तित्व में देवता के गुणों का प्रवेश होने लगता है। वह सत्य सङ्कल्प बन जाता है। तात्पर्य यह कि वह जो कुछ सोचता है, जो कहता है, उसके मन में जो बात उठती है वह पूरी हो जाती है।

अनुभवी साधकों का अनुभव है कि जो व्यक्ति जिस देवता का ध्यान करता है, उसमें उस देवता की शक्ति निहित हो जाती है। देवता का साक्षात्कार होने लगता है। जिस समय साधक अपने इष्ट देवता का ध्यान करता है, उस समय वह अपने इष्ट देवता में मिल जाता है। ध्याता और ध्येय का अन्तर मिट जाता है। उस समय उसका चित्ताकाश असंख्य चमत्कारों से परिपूर्ण हो जाता है। वह जिस बीजमन्त्र का जप ध्यानस्थ होकर करता है उस बीज मन्त्र के हर अक्षर से स्फुलिङ्ग निकलते हुए प्रतीत होते हैं और वही स्फुलिङ्ग धीरे-धीरे इष्टदेवता का रूप ग्रहण कर लेते हैं। रूपस्थ ध्यान द्वारा इष्ट देवता के साक्षात्कार के प्रक्रिया अनेक ढंग की हैं।

मुख्यतया ध्यान सगुण और निर्गुण दो प्रकार का होता है। सगुण ध्यान के लिए अपने किसी अभीष्ट देवता का चुनाव करना पड़ता है अथवा भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं का ध्यान किया जाता है। जैसे ज्ञान और विद्या प्राप्त करने के लिए सरस्वती का ध्यान श्रीकीर्त्ति प्राप्त करने के लिए महालक्ष्मी का ध्यान, विजय-विभूति प्राप्त करने के लिए दुर्गा का ध्यान किया जाए और जो राग-द्वेष से रहित होकर केवल कल्याण कामना रखता है उसे शिव का ध्यान करना चाहिए। बौद्धों को बुद्ध का और जैनियों को अर्हंत का ध्यान कल्याण कामना के लिए यथेष्ट है।

रूपस्थ ध्यान की एक सरल प्रक्रिया है जो बहुत कम समय में अभीष्ट को पूरा करती है। वह इस प्रकार है—

मध्य निशा में अथवा ब्राह्म बेला में अभीष्ट देवता की प्रतिमा या चित्र सामने रखकर दीप ज्योति, अगुरु जलाकर कमरे की बत्ती बुझा दी जाए।

अन्धकार में प्रतिमा के समक्ष जलती हुई ज्योति के प्रकाश में देवता के पैरों में ध्यान जमाए। धीरे-धीरे ऊपर के अङ्गों पर ध्यान जमाते हुए देवता के मस्तक तक दृष्टि ले जाए। पुनः मस्तक से नीचे की ओर पैरों तक दृष्टि ले आए। बहुत बारीकी से, अत्यन्त श्रद्धा-भावना से देवता के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का सूक्ष्म निरीक्षण स्थिरतापूर्वक करना चाहिए। नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे की ओर दृष्टि ले जाते समय बीच-बीच में आँखें बन्द करके देवता की छवि को हृदयङ्गम करते रहना चाहिए और मन ही मन उसके बीज मन्त्र का जाप करते रहना चाहिए। इस तरह चिन्तन करते हुए सर्वप्रथम देवता का रूप कुछ धुँधला दृष्टिगत होगा किन्तु कुछ दिनों के अभ्यास से वह रूप स्पष्ट होने लगता है। जब आँखें बन्द कर लेने पर देवता का स्वरूप स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे तो समझंना चाहिए कि ध्यान सिद्ध हो गया।

यह स्मरणीय है कि जिस देवता का ध्यान किया जाए उसकी शक्ति की उपस्थिति का अनुभव साधक को करना चाहिए। यह अनुभूति जितनी तीव्र होगी, उतनी ही अधिक सफलता मिलेगी।

यहाँ रूपस्थ ध्यान सम्बन्धी एक ताजा उदाहरण प्रस्तुत कर देना अप्रासङ्गिक न होगा। 'बड़नगर (जिला उज्जैन) के श्रीमनमोहन त्रिवेदी की माँ शुद्ध हृदय, सतोगुण सम्पन्न, श्रद्धा सम्पन्न महिला है। दो वर्ष पूर्व उन्हें मैंने गुप्त हिमालय स्थित महावतार बाबा जी के कल्पित चित्र को सामने रखकर ध्यान की प्रक्रिया का अभ्यास कराया। उन्होंने इतनी तन्मता ये भावनापूर्ण ध्यानाभ्यास किया कि उस कल्पित छवि में ही महावतार बाबाजी का वास्तविक रूप प्रकट होने लगा। तब उन्होंने मानसिक पूजन प्रारम्भ कर दिया। कहना न होगा कि उन्हें मानसी सिद्धि मिल गई। दिव्य जल, दिव्य कमल-पुष्पों का साक्षात्कार उन्हें होने लगा। मानसी पूजा में पुष्प अर्पित करते समय उन्हें दिव्य सुगन्धि की अनुभूति होने लगी। चरणोदक लेते समय उन्हें दिव्य जल का पान करने का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा।'

इसका रहस्य यह है कि वह जब महावतार बाबाजी का ध्यान करती है, उस समय वह बाबाजी की उपस्थिति का अनुभव करती हैं। बाबाजी का चित्र एक बाह्य अवलम्बन है, किन्तु वह चित्र उनकी अनुभूति को जाग्रत करने में सहायक है।

जो लोग साकार उपासना नहीं करते हैं, अव्यक्त की उपासना करते हैं, उन्हें ध्यान में बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ता है। मैंने कई वर्ष तक हठपूर्वक अव्यक्त का ध्यान करने का प्रयास किया, किन्तु कुछ उपलब्धि नहीं हुई। उस समय मैंने अनुभव किया कि देह धारण करने वालों के लिए अव्यक्त पर मन को एकाग्र करना अत्यन्त दुष्कर है। मुझे यह बोध हुआ कि निर्गुण, निराकार को देखा नहीं जा सकता। जो निराकार है, उसका ध्यान कैसे किया जाए। ब्रह्मनिर्गुण है, निराकार है अतः व न कभी दृश्य हुआ है और न कभी होगा।

रूपस्थ ध्यान सहज ही सफलता प्रदान करता है। रूप दो प्रकार के हैं प्रतिमा और प्रतीक। प्रतीक भी दो प्रकार के हैं यन्त्र और आकार विशेष। प्रतिमा हो या यन्त्र अथवा कोई चिह्न विशेष से भी अवलम्बन मानकर ध्यान किया जाए तो ध्यान करते समय उसके रहस्य को समझना चाहिए। मूर्त्ति या चित्र अथवा यन्त्र ध्यान के स्थूल आलम्बन हैं, किन्तु देवता की भावना होने पर उस मूर्त्ति या यन्त्र में चेतना का जागरण हो जाता है।

मन को एकाग्र करने के उपाय

ध्यान में मन की एकाग्रता का सर्वोपरि स्थान है। लाख कोशिश करने पर भी मन एकाग्र नहीं हुआ करता है, किन्तु योगियों, सिद्धों द्वारा कुछ ऐसे उपाय बताये गये हैं जिनसे क्षणभर में मन एकाग्र हो जाता है। यहाँ एक दो विधियों का उल्लेख किया जा रहा है।

एक सामान्य-सी बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जिह्वा लौल्य से मन दोलायमान हुआ करता है। जिह्वा को स्तम्भित कर देने से मन स्तब्ध हो जाता है और मन के स्तब्ध होने पर ध्यान में एकाग्रता आती है। साधक को चाहिए कि ध्यानाभ्यास के पूर्व सुखासन या सिद्धासन लगाकर बैठ जाए। शरीर को ढीला रखे, किसी अङ्ग में तनाव न रहे। नेत्र खुले रहें। प्रत्येक इन्द्रियों को अनियन्त्रित कर दे। मन जो भी सोचे सोचने दो, जहाँ भागे भागने दे और नेत्र जो भी देखे देखने दे, कान सब कुछ सुनते रहें। इस तरह चुपचाप बैठकर मन की गतिविधि का निरीक्षण करता रहे, उससे छेड़छाड़ न करे। यदि साधक का मन अधिक दुर्बल नहीं है तो केवल दस दिन में मन सङ्कल्प विकल्प रहित

हो जाता है। सब कुछ देखते हुए, सुनते हुए भी मन शान्त सुस्थिर बना रहता है। साधक का मन यदि अधिक दुर्बल हो तो महीना, हो महीना इससे भी अधिक समय लग सकता है।

मन की ऐसी स्थिति हो जाने पर ध्यान किया जाए। जिस प्रकार का भी ध्यान हो, मन को एकाग्र करने की सरल विधि सबके लिए एक समान है। ओंठों को बन्द कर लिया जाए। दाँत आपस में जुड़े हुए न हों और जिह्वा मध्य भाग में स्थिर रहे। ऐसा करने से तत्काल एकाग्रता आ जाती है।

अगर किसी साधक के लिए जिह्वा को मध्यभाग में स्थिर करना सम्भव न हो तो जिह्वा के अग्रभाग को नीचे की दन्त पंक्तियों में सटाकर ध्यान करना चाहिए। मन के स्थिर हो जाने पर उसे नासिका के अग्रभाग अथवा दोनों भौंहों के मध्य भाग (त्रिपुटी) में या हृदय अथवा सहस्रार चक्र में स्थिर करके ध्यान करना चाहिए। नासिका, त्रिपुटी, और हृदय में मन को स्थिर करना तो सहज है, साध्य है, किन्तु सहस्रार चक्र में स्थिर करना कठिन होता है। इसके लिए सरल उपाय यह है कि मुखविवर में स्थित तालु प्रदेश में मन को स्थित किया जाए तो वह सहस्रार चक्र तक आसानी से पहुँचकर वहीं स्थिर हो जाता है।

रूपस्थ ध्यान की एक और प्रक्रिया है, जिससे साधक सिद्ध दशा को प्राप्त करते हैं—

साधक अपने दाहने नेत्र में सूर्य का ध्यान करे और बाएँ नेत्र में चन्द्र का ध्यान करे। इस प्रकार ध्यान करते-करते सूर्य और चन्द्र जैसे आकाश में है, वैसे ही जब नेत्रों में दिखने लगें, तब दाहिना नेत्र तपने लगेगा और बायाँ नेत्र शीतल होने लगेगा। उसके बाद सूर्य की धारणा बाएँ नेत्र में करना और चन्द्र की धारणा दाहिने नेत्र में करना। इस प्रकार धारणा करके सूर्य और चन्द्र को अन्तर्दृष्टि करके हृदयाकाश में देखते रहना और जीव के स्वरूप को भी देखना तथा जीवन के स्वरूप में परमात्मा का ध्यान करना।

इस प्रकार ध्यान करते-करते साधक को विश्वरूप का दर्शन होने लगता है।

नादानुसन्धान

जो साधक नाड़ी शोधन, प्राणायाम के झंझट में नहीं पड़ना चाहें उसके लिए नादानुसन्धान की साधना सरल और उपयोगी है। इसमें किसी प्रकार की

विपत्ति होने की भी आशंका नहीं रहती। नाद-साधना लययोग की एक क्रिया मात्र है। योगी लोग लगयोग की साधना प्रायः चार प्रकार से करते हैं किन्तु लययोग में नादानुसन्धान की साधना बहुत सुगम और सफलता देने वाली है। इस साधना से मन धीरे-धीरे लय हो जाता है।

साधन विधि—नियम यह है कि नादानुसन्धान साधना से जो निर्वाण या मुक्ति की आकांक्षा रखते हैं वे साधक उत्तर की ओर मुख करके साधना के लिए बैठें और जिन्हें सांसारिक उन्नति के लिए आकांक्षा हो वे पूर्व की ओर मुँह करके बैठें। साधक को दीर्घकाल तक जिस आसन पर बैठने का अभ्यास हो उसी आसन को लगाकर मस्तक, ग्रीवा, मेरुदण्ड, उदर बराबर सीधा रखकर अपने शरीर को सीधा करके बैठ जाना चाहिए। इसके बाद नाभिमण्डल में दृष्टि लगाकर कुछ देर तक अपलक देखते रहना चाहिए। नाभिस्थान में दृष्टि और मन को रखने से श्वास-प्रश्वास जैसे-जैसे कम होते जाएँगे, वैसे ही मन भी स्थिर और एकाग्र होता जाएगा। कुछ दिन के अभ्यास से ही मन एकदम शान्त और निर्विकार बन जाता है।

मन स्थिर करते समय थोड़ी वायु भी धारण करनी चाहिए। इससे नाद ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। पहले झींगुर के झनकार जैसा, फिर भृंगी के गुंजार जैसा शब्द सुनाई देगा। उसके बाद जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाएगा वैसे ही क्रम से वंशी की तान, मेघ का गर्जन, झाँझ की झनकार भौरें की गुंजार, घण्टा-घड़ियाल का नाद, तुरही, करताल, मृदंग आदि की ध्वनियाँ सुनाई पड़ेंगी। अभ्यास जितना बढ़ेगा उतनी ही नाना प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ेंगी।

पूर्णतया ध्यानाभ्यास हो जाने पर हृदय अन्दर से अद्‌भुत, अपूर्व शब्द और उससे द्रूत प्रतिध्वनि सुनाई पड़ेगी। जब साधक इस प्रकार के शब्द सुनने लगे तब उसे चाहिए कि वह आँखें बन्द करके अनापहत पद्म में स्थिर बाणलिङ्ग शिव के मस्तक पर निष्कम्प दीपशिखा की भाँति जलती हुई ज्योति का ध्यान करे। इस तरह ध्यान लगते-लगते हृदय अन्दर ज्योति दर्शन होने लगता है। इस नाद-साधना का अभ्यास पूर्ण हो जाने पर अनवरत ओंकार की ध्वनि हृदय के अन्दर गूँजा करती है। सदा, सर्वत्र सोते, जागते, चलते-फिरते, वात करते नाद ध्वनि गूँजती रहती है।

रूपस्थ ध्यान के अन्तर्गत एक साकार उपासना योग है, जिसकी साधना से कुण्डलिनी सहज ही जाग्रत की जा सकती है।

क्रियायोग-साधना के सरल उपाय—क्रियायोग की साधना करने से पहले शरीर तत्त्व का सम्यक् बोध कर लेना आवश्यक होता है। यह तत्त्व-बोध पुस्तकें पढ़ने से नहीं सुयोग्य गुरु के अनुग्रह से प्राप्त करना चाहिए। साधना का अर्थ है—सतत अभ्यास। क्रियायोग की साधना में धैर्य और आस्था का होना नितान्त आवश्यक है। साधक को चाहिए कि पहले वह आसन का अभ्यास करे। शरीर हिले-डुले नहीं, चित्त शान्त, निष्कम्प और उद्वेग रहित हो—ऐसी अवस्था में बैठने का नाम आसन है। अष्टांग-योग साधना में कई तरह के आसन बताए गए हैं, किन्तु क्रियायोग की साधना में 'सिद्धासन' को आचार्यों ने सर्वश्रेष्ठ माना है।

सिद्धासन का स्वरूप—मल इन्द्रिय और मूत्र इन्द्रिय के बीच के स्थान को बाएँ पैर की एड़ी से दबकर दाहने पैर की एड़ी से उपस्थ इन्द्रिय को आच्छादित कर हृदय में ठोडी को जमाकर देह को सीधा रखकर और दोनों भौंहों के मध्य स्थान में दृष्टि जमाकर निश्चल भाव से बैठने का नाम सिद्धासन है।

सिद्धासन का अभ्यास करने से योग-साधना में बहुत शीघ्र सफलता मिलती है। क्रियायोग की इस प्रकार की साधना से किसी प्रकार के अनिष्ट की सम्भावना भी नहीं रहती है। वस्तुतः सिद्धासन सिद्धि के दरवाजे खोलता है, क्योंकि लिङ्गमूल में जीव तथा कुण्डलिनी शक्ति स्थिर रहती है। सिद्धासन लगाकर बैठने से वायु का पथ सरल तथा सहजगम्य हो जाता है। इससे स्नायुओं का विकास होता है और समस्त शरीर की बिजली के लिए चलने-फिरने का सुभीता रहता है। सिद्धासन से आनन्दकारी उन्मनी (समुन्नत) दशा प्राप्त होती है।

आसन का अभ्यास हो जाने से शीत-वात-आतप, क्षुधा, तृष्णा, रागद्वेष आदि किसी प्रकार के द्वन्द्व साधना में बाधक नहीं बन पाते हैं। आसन लगाने का मुख्य उद्देश्य यही है कि मेरुदण्ड सीधा रहे। मेरुदण्ड को इसलिए सीधा रखना पड़ता है कि उसी के अन्दर सुषुम्ना नाड़ी विद्यमान है, जिसके भीतर

क्रम से वज्रिणी, चित्रिणी और ब्रह्म नाड़ी विद्यमान रहती हैं। आसन, मुद्रा तथा ध्यान द्वारा कुलकुण्डलिनी जाग्रत होती है। जाग्रत होने पर कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी के भीतर से षट्चक्रों को क्रमशः बेधती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है। वहाँ पहुँचकर वह परमशिव में लय हो जाती है। लय होना ही समाधिस्थ अवस्था है।

कदाचित् साधना के समय साधक का मेरुदण्ड झुका रहे, टेढ़ा-मेढ़ा रहे तो सिद्धि के बजाय आधि-व्याधि उत्पन्न हो जाती है। अतएव साधना के समय मेरुदण्ड सीधा रहे इसका ध्यान साधक को हर समय रखना चाहिए।

आसन सिद्धि—नित्य नियमित रूप से ब्राह्म मुहूर्त्त में, मध्याह्नकाल में, सायङ्काल और मध्यरात्रियों में आसन लगाकर बैठने से छह महीने में आसन सिद्ध हो जाता है। साधक को चाहिए कि प्रतिदिन प्रत्येक बार में कम-से-कम आधा घण्टा तक आसन अवश्य लगाये। लगातार 3 घण्टे तक आसन लगाकर बैठने से किसी प्रकार का उद्वेग, दर्द न हो और आनन्द का अनुभव होने लगे तो समझना चाहिए कि आसन सिद्ध हो गया है।

साधना में सावधानी—1. साधक को चाहिए कि नित्य नियमित रूप से एक ही स्थान पर आसन लगाए। ऐसा करने से वह स्थान विद्युल्लहरों से आक्रान्त हो जाता है, विद्युतशक्ति समाक्रान्त वह स्थान शान्ति और आनन्द की लहरें पैदा करने करता है। उस स्थान पर बैठते ही चित्त, शान्त, एकाग्र और आनन्दमय बन जाता है।

2. साधक यदि विरक्त है तो उसे पर्वत, जङ्गल, नदी तट पर गुफा में बैठकर साधना करनी चाहिए और गृहस्थ हो तो, जिस स्थान पर साधना करे वह स्वच्छ, शान्त, हवादार हो। उसे नित्य गाय के गोबर से लीपकर शुद्ध करे, उस स्थान पर किसी और का प्रवेश वर्जित रहे। दूसरे आदमी के प्रवेश से उस आदमी के शरीर में उस शक्ति का प्रवेश हो जाता है जो साधक द्वारा नित्य नियमित साधना द्वरा उत्पन्न हुआ करती है।

3. जिस आसन (दर्भासन, ऊर्णादनस, मृगचर्म, व्याघ्रचर्म) पर बैठकर साधक साधना करे, उस आसन को किसी और के स्पर्श से बचाना चाहिए। यदि कोई उसका स्पर्श कर ले तो साधक को चाहिए कि उस आसन का वह परित्याग कर दे।

4. इसी तरह जिस वस्त्र, कोपीन आदि को साधक धारण कर साधना करता हो, उसका भी स्पर्श किसी दूसरे व्यक्ति से न होने पाए।

5. एक बात और है, अनुभव सिद्ध है। जो साधक संयम-नियमपूर्वक, निष्ठापूर्वक साधना करता है, उसकी सहायता के लिए सद्गुरु, प्राणयम लोकों के सिद्धजन अथवा इष्टदेवता आया करते हैं, अतः साधना स्थल को पवित्र, पुनीत बनाए रखना चाहिए। मिट्टी के तेल का दीपक न जलाए, बिजली न जलाए।

6. साधक को आहार-विहार में भी शुद्धता, सात्त्विकता का ध्यान रखना चाहिए। उपर्युक्त छह बातों का सार एक शब्द में है शौच। शौच दो प्रकार का होता है। बाह्य और अभ्यन्तर शरीर और मन की मलिनता को दूर करना शौच है।

साधन विधि—साधना में सर्वोपरि है—मन की एकाग्रता। इसलिए सर्वप्रथम मन को स्थिर, एकाग्र करने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ लोग मन की एकाग्रता के लिए प्राणायाम को महत्त्व देते हैं, किन्तु यह कठिन क्रिया-है। प्राणायाम हठयोग के अन्तर्गत है, इससे आधि-व्याधि हो जाने का भी भय रहता है। सिद्ध योगियों का कथन है कि प्राणायाम कोई बहुत ऊँची क्रिया नहीं है। हाँ, इससे शरीर को स्वस्थ रखने तथा आत्मज्ञान प्राप्त करने में थोड़ी बहुत सहायता मिलती है। हाँ, नाड़ी शोधन की जो क्रिया पीछे बताई गई है तथा शीतली प्राणायाम की जो विधि बताई गई है, उससे साधक के शरीर का शोधन होता रहता है, और किसी प्रकार की हानि भी नहीं होती है। पीछे नादानुसन्धान की जो प्रक्रिया बताई गई है, वह सरल है और मन को एकाग्र बनाती है।

❐

चतुर्थ पाद

आरोग्य-साधना

हर व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह आनन्दमय, आरोग्यमय जीवन व्यतीत करे। साधक के लिए नीरोग रहना साधना की पहली शर्त है। इसलिए कुछ ऐसे योग लिखे जा रहे हैं, जो सिद्ध योगियों द्वारा व्यवहार में लगाए जाते हैं—

अजीर्ण-अपच, उदरामय

1. अधिकांश लोग उदरामय, अजीर्ण आदि से व्यथित रहते हैं। ऐसे लोगों को चाहिए कि वे भोजन, जलपान आदि जो भी खाना हो दाहिनी नासिका का स्वर चलने पर खाया करें।

इस नियम का पालन करने से भोजन शीघ्र पच जाता है। भोजन के बाद थोड़ी देर बाईं करवट लेटकर आराम कर लेना चाहिए।

2. प्रतिदिन 10 मिनट तक सिद्धासन लगाकर बैठ जाए, ठुड्डी को कण्ठकूप में गड़ाकर श्वास रोककर नाभिमण्डल में निर्निमेष ध्यान करने से उदर सम्बन्धी समस्त रोग दूर हो जाते है।

प्लीहा-यकृत

रात में सोते समय तथा सबेरे जागने पर शय्या पर लेटे-लेटे ही हाथों और पैरों को सिकोड़कर फैला दिया जाए। फिर कभी दाहिनी करवट कभी बायीं करवट शरीर को टेढ़ा-मेढ़ा करके सारे शरीर को सिकोड़ना, फैलाना चाहिए। प्रतिदिन 5 मिनट तक यह क्रिया करने से कभी प्लीहा और यकृत की बीमारी नहीं होती और जिन्हें यह बीमारी हो वह कुछ ही दिनों में इससे छुटकारा पा जाते हैं।

स्नायुदौर्बल्य, स्नायविक पीड़ा

शरीर के किसी भी अङ्ग में स्नायविक पीड़ा होने पर जिस नासिका से श्वास चलता हो, उसे बन्द कर देना चाहिए। 5 मिनट में पीड़ा दूर हो जाती है।

दमा या श्वास रोग

दमा का दौरा पड़ने पर जिस नासिका से श्वास चलता हो, उसे बन्द कर देना चाहिए। पन्द्रह मिनट में दमा का दौरा दूर हो जाता है। प्रतिदिन यह क्रिया करने से पुराना से पुराना दमा छह महीने में चला जाता है।

वातरोग

भोजन के बाद नित्य लकड़ी की कंघी बालों में इस प्रकार घुमाई जाए कि कंघी काँटे सिर की चमड़ी का स्पर्श न करें। कंघी करने के बाद वीरासन लगाकर (दोनों पैर पीछे मोड़कर बैठना) 15 मिनट तक बैठे रहना चाहिए। प्रतिदिन दोनों समय नियमित यह क्रिया करने से पुराना से पुराना वातरोग अच्छा हो जाता है। यदि स्वस्थ आदमी करे तो उसे कभी वात रोग नहीं होता।

शिरोरोग—प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर जागते हुए मुँह साफ करके नासिका से शीतल जल पीना चाहिए। इससे हर प्रकार के शिरोरोग, नजला, जुकाम आदि रोग दूर होते है। स्वस्थ आदमी यदि यह रोग अपनाए तो उसे कभी शिरोरोग नहीं होगा।

ज्वररोग—सिन्दुवार की जड़ बाँध देने से हर प्रकार के ज्वर शान्त होते हैं।

अनुभूत योग

1. किसी भी कारण से थकावट आ जाए अथवा धातु गर्म हो जाए तो कुछ देर दाहिने करवट सो जाना चाहिए। थोड़ी ही देर में शरीर में स्फूर्ति आ जाएगी।

2. किसी भी प्रकार का दर्द हो, अकुलाहट, घबराहट हो तो जिस नासिका-छिद्र से श्वास चलता हो, उसे तुरन्त बन्द कर देना चाहिये। जितनी देर या जितने दिन तक सामान्य स्थिति न आये उतने समय तक नासिका को बन्द रखना चाहिये। बहुत शीघ्र लाभ होता है।

3. प्रतिदिन आधा घण्टा पद्मासन से बैठकर दाँतों की जड़ में जीभ का अग्रभाग दबाकर रखने से सब प्रकार की व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

4. ललाट के ऊपर पूर्णिमा के चन्द्रमा की ज्योति का ध्यान करने से सब प्रकार के कुष्टरोग दूर हो जाते हैं। आयु बढ़ती है।

5. हमेशा दृष्टि के आगे पीतवर्ण उज्ज्वल ज्योति का ध्यान करने से बिना औषधि सब रोग दूर हो जाते हैं।

6. माथा गर्म हो या सिर में चक्कर आते हों तो मस्तक पर श्वेतवर्ण शरद् पूर्णिमा के चन्द्रमा का ध्यान करने से 7 मिनट में प्रत्यक्ष फल मिलता है।

7. जङ्गल में, रेगिस्तान में प्यास लगने पर पानी न मिले तो ऐसा ध्यान करना चाहिए कि जीभ पर कोई खट्टी चीज रखी है। शरीर गर्म होने पर ठण्डी चीज रखी होने की भावना करे और शरीर शीतल हो गया हो तो उष्ण वस्तु का ध्यान करने से तुरन्त लाभ होता है।

8. प्रतिदिन सायं और प्रातःकाल सिद्धासन से बैठकर नाभि की ओर एकटक देखते हुए नाभि में वायु, धारण कर नाभिकन्द का ध्यान करने से अग्निमांद्य, असाध्य अजीर्ण, यकृत, प्लीहा, अतिसार, संग्रहणी आदि रोग दूर हो जाते हैं।

9. प्रातःकाल सोकर जागते ही जिस नासिका से श्वास चलता हो, उस ओर का हाथ मुँह में फेरकर शय्या त्याग करने से मनोकामना पूरी होती है।

10. रक्त-अपामार्ग की जड़ हाथ में बाँध रखने से भूत-प्रेतजन्य तथा अन्य प्रकार के ज्वर शान्त होते हैं।

11. जो व्यक्ति दिन में बाईं नासिका से, रात में दाहिनी नासिका से श्वास लेता है, वह नीरोग निरलस और चेतना सम्पन्न होता है। दस पन्द्रह तिन तक रुई लगाकर अभ्यास करने से श्वास का क्रम ठीक हो जाता है।

12. प्रातःकाल और तीसरे पहर कागदी नींबू के पत्तों को सूंघने से पुराना और आन्तरिक ज्वर छूट जाता है।

13. प्रतिदिन एकाग्र होकर श्वेत, कृष्ण और रक्तवर्ण का ध्यान करने से देह से समस्त रोग, दोष, विकार नष्ट हो जाते हैं।

14. प्रतिदिन एक तोला शुद्ध गाय के घी में आठ दाने काली मिर्च डालकर उस घी को पीने से रक्त-विकार नहीं रहता और शरीर पुष्ट होता है।

15. प्रतिदिन शीतली मुद्रा करने से रक्त शुद्ध होता है। वात, कफ, पित्त जन्य विकार दूर होते हैं। शरीर ज्योतिर्मय बनता है।

शीतली मुद्रा

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरेयेच्छनैः।
क्षणञ्च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः॥

—दोनों ओठों को सिकोड़ कर एक अंगुल जीभ बाहर निकाल कर जिह्वा को सिकोड़ कर बाहर की वायु को धीरे-धीरे अन्दर की ओर खींचे। पूरी तरह वायु खींच लेने के बाद जीभ को अन्दर ले जाकर मुँह बन्द रखकर वायु को निगल जाए। थोड़ी देर तक वायु को रोकने के बाद मुँह बन्द किए, हुए ही नासिका के दोनों रन्ध्रों से धीरे-धीरे वायु को निकाल दे। यही शीतली मुद्रा है। इसे दिन में चार बार करनी चाहिए। प्रत्येक बार तीन मिनट तक की जानी चाहिए।

16. जो अपना प्रतिद्वन्द्वी हो, अपने से विरुद्ध हो अथवा शत्रु भाव रखता हो उसे अपने अनुकूल बनाने के लिए उस व्यक्ति को अपने उस बाजू में रखकर उससे बात करे जो अपने निःश्वास से विपरीत हो। जैसे यदि दाहना स्वर चल रहा है तो विरोधी को उसके विपरीत बायीं ओर रखकर उससे बात करें।

17. नित्य कुम्भक करके मुख द्वारा निःश्वास वायु पीना चाहिए। जब निःश्वास वायु स्थिर हो जाए तब शत्रु का ध्यान करना चाहिए। कुछ ही दिनों में प्रबल शत्रु वशीभूत हो जाता है।

18. चन्द्र नाड़ी चलते समय बाईं ओर, सूर्य नाड़ी चलते समय दाहिनी ओर और सुषुम्णा चलते समय मध्य में रखकर कार्य करने से विवाद में विजय होती है।

19. जिस नाड़ी में वायु चलता हो, उसमें स्थिर प्राण वायु को खींचकर जिस ओर की ओर की नासिका से वायु चलता हो उसी और पैर आगे रखकर गमन करने से शत्रु पर विजय होती है।

साधक सावधान!

1. क्रियायोग हठयोग नहीं है, यह प्राचीन राजयोग है। क्रियायोग की सिद्धि के लिए हठयोग आवश्यक नहीं है।

2. नाड़ियों को शुद्ध रखने और स्वास्थ्य की रक्षा के लिए हठयोग की उपयोगिता है। फिर भी किसी विशेषज्ञ की देख-रेख में हठयोग के आसन, प्राणायाम आदि का अभ्यास करना चाहिए।

3. प्राणायाम करने से शरीर के अन्दर खुश्की पैदा होती है, इसलिए प्राणायाम के अभ्यासियों के लिए दूध, मलाई, घी का सेवन करते रहना चाहिए। प्राणायाम करने से मस्तिष्क-विकार भी उत्पन्न हो जाता है। प्राणायाम तभी लाभदायक होता है, जब योग के प्रथम और द्वितीय अङ्ग यम और नियम की प्राप्ति तथा आसन की सिद्धि प्राप्त हो जाए। यद्यपि योग सम्बन्धी शास्त्रों में प्राणायाम की बहुत प्रशंसा की गई है, किन्तु यह भी कहा गया है कि वायु (प्राण) जीतने पर भी मन को न जीतने से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। मन प्राणवायु से उच्च है, क्योंकि प्राणवायु मन का अनुसरण करता है न कि मन प्राण वायु का। काम, क्रोध से उत्तेजना पैदा होने पर श्वास (प्राण) की गति तेज हो जाती है, और मन शान्त होने पर प्राण भी शान्त रहते हैं। अनुभवी योगिकों का कहना है कि प्राण के निरोध हो जाने पर भी मन पूरी तरह निरुद्ध नहीं होता है। इसीलिए क्रियायोग में प्राणों का निरोध न कर सीधे मन का निग्रह किया जाता है।

4. हठयोग का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर से रहता है। इसलिए स्थूल शरीर से उत्पन्न अज्ञान जो आत्माभिमान है, उसकी पुष्टि हुआ करती है यह अध्यात्म पथ के लिए प्रतिबन्धक है।

क्रियायोग में स्थूल शरीर को केवल आवरण मानकर उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता, शरीर की उपेक्षा कर केवल मनोमयकोष से साधना का अभ्यास किया जाता है।

5. हठयोग स्थूल शरीर से सम्बन्धित होने के कारण हठयोगी की मृत्यु के बाद और आगे उसका कोई प्रभाव, कोई उपयोगिता नहीं रहती, किन्तु क्रियायोग की मानसिक क्रिया का परिणाम जन्म-जन्मान्तर तक बना रहता है,

क्योंकि स्थूल के नष्ट होने के बाद भी अन्तःकरण का नाश नहीं होता, वह बीज रूप से बना रहता है।

6. मन और इन्द्रिय को नियन्त्रित किये बिना केवल स्थूल शारीरिक अभ्यास (हठयोग) द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत करने और षट्चक्रों का वेध करने से महती हानि की सम्भावना रहती है।

7. योनिमुद्रा द्वारा आँख, कान, नाक आदि रन्ध्रों को बन्द कर लेने पर जो दस प्रकार से शब्द सुनाई पड़ते हैं, वे भुवलोक के अथवा सूक्ष्म भौतिक या भुवलौकिक शब्द सुनते-सुनते किसी-किसी के मस्तिष्क में उन्माद पैदा हो जाता है। कुछ ऐसे भी लोग देखे गए हैं जो ऐसे शब्द सुनने के कारण अपना प्रभुत्व ही अपने पर से खो बैठे हैं।

8. क्रियायोग के अन्तर्गत अजपा-योग है। किसी मन्त्र के दो भाग करके एक भाग से पूरक करते हुए अर्थात् श्वास के भीतर जाते समय अपना और पूरक पूरा हो जाने पर तनिक रुक जाना अर्थात् कुम्भक करना और फिर रेचक करते हुए अर्थात् श्वास को बाहर निकालते समय मन्त्र के दूसरे भाग का जप करना और रेचक पूरा हो जाने के बाद फिर थोड़ी देर रुकना अजपा जपयोग है। यदि कोई मन्त्र न हो तो उपर्युक्त विधि से सोऽहं का उच्चारण करना चाहिए।

वस्तुतः अजपा जपयोग में किसी भी मन्त्र के जप या उच्चारण की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल श्वास के पूरक और रेचक की गति पर ध्यान देना। अनुभवी साधकों का कहना है कि श्वास की गति पर ध्यान देते रहने से सोऽहं का जप बिना जप किए ही होने लगता है।

9. क्रियायोग का सिद्धान्त है कि शरीर के प्रति अहंता और पदार्थों के प्रति ममता त्यागकर सभी प्रकार के कर्मों को भगवान् के या अपने इष्टदेव के कर्म समझकर केवल उन्हीं के निमित्त निष्काम भाव से करना चाहिए।

10. भगवान् के जिस सगुण, साकार भाव के प्रति हृदय का स्वाभाविक झुकाव हो, उसी के प्रति अनुरक्त होकर उसके दिव्य रूप का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास द्वारा अपने मन को उसी में लय करना चाहिए। क्रियायोग में ध्यान सर्वोपरि है। गुरु के उपदेश से हृदय में ध्यान करने से इष्ट का साक्षात्कार होने लगता है।

11. क्रियायोग की यथार्थ दीक्षा देकर सद्गुरु साधक का सम्बन्ध दैवी प्रकृति के प्रकाश के साथ करा देते हैं। सद्गुरु मिलने पर साधक का अविद्यान्धकार दूर हो जाता है। ऋषि और सिद्धगण ही सद्गुण वे देह त्याग नहीं करते हैं। सद्गुरुओं को योगाचार्य भी कहते हैं। सद्गुरुओं का निवास गुप्त हिमालय में स्थित सिद्धाश्रम है। सद्गुरुओं का एकमात्र कार्य ज्ञान, भक्ति और योग का प्रचार लोगों में करना है। अदृश्य रूप में सद्गुरु जिज्ञासुओं की सहायता करते हैं, और उचित समय आने पर अधिकारी साधक को दर्शन देकर उसे योग की दीक्षा भी देते हैं। साधकों को चाहिए कि चमत्कारों को दिखाकर धन, यश, प्राप्त करने वाले, शिष्य समूह का विस्तार करने वाले गुरुओं के चक्कर में न पड़कर सीधे सद्गुरु पर विश्वास करके साधना करें, निश्चय ही उन्हें सद्गुरु मार्ग प्रदर्शन करते हैं, दर्शन देकर दीक्षोपदेश देते हैं।

□

उपसंहार

क्रियायोग की साधना का मुख्य संबल है

भक्ति! बिना भक्ति भावना के इस योग की साधना में सिद्धि नहीं मिलती है। इसलिए साधक को अपने गुरु पर भगवान् पर अपने इष्टदेवता पर और मन्त्राधिष्ठित देवता पर निष्ठा और भक्ति उत्पन्न करनी पड़ती है। मैं यहाँ पर अपना ही उदाहरण देता हूँ। यद्यपि मैं न तो साधक हूँ, न सिद्ध हूँ, किन्तु योग साधना में पूर्ण सिद्धि प्राप्त महासिद्धों और योगियों, सद्गुरुओं का अनुग्रह मुझे अवश्य प्राप्त हुआ है, पहले मैं ईश्वर, देवी-देवता आदि पर विश्वास नहीं रखता था, मेरा हृदय जड़ था, किन्तु कैलाश-मानसरोवर की यात्रा में अचानक मेरा हृदय परिवर्तित हो गया अब तो मुझे हर पदार्थ में दैवी-सत्ता होने का विश्वास हो गया है।

क्रियायोग की साधना से पदार्थों के स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों का बोध होता है। ज्ञान गङ्गा दो धाराओं से बहा करती है—एक स्थूल धारा है और दूसरी सूक्ष्म धारा है। इन दोनों धाराओं का बोध प्राप्त हो जाने पर साधक को विषय का ज्ञान और अविषय का ज्ञान पूर्ण रूप से हो जाता है।

हमारी संस्कृति में जल, पर्वत, मिट्टी, पत्थर, वृक्ष आदि सभी की पूजा देवता के रूप में की जाती है। जो इस उपासना के सूक्ष्म विज्ञान को नहीं जानते हैं, वे इस प्रकार की की भक्ति को मूढ़ भक्ति, अथवा बेवकूफी समझते हैं। सन् 1942 में प्रयाग में कुम्भ पर्व के अवसर पर मिलिट्री का एक कर्नल गङ्गा के किनारे खड़ा अपनी सुराही से पानी पी रहा था। पानी पीने के बाद उसने अन्त में मुँह में पानी भरकर गङ्गा जी में कुल्ला फेंक दिया। एक महात्मा वहाँ खड़े थे, उन्होंने उस कर्नल से कहा कि गङ्गा जी में मुँह का कुल्ला छोड़कर तुमने अनुचित किया। कर्नल ने तैश में आकर अंग्रेजी में कहा कि पानी-में-पानी छोड़ देने से क्या अनुचित हुआ? महात्मा ने भी अंग्रेजी में जवाब देते हुए कहा, कि तुम जल को स्वरूप की नहीं समझते?

कर्नल बोला, बाबाजी, आप क्या समझें कि जल कैसे बनता है। दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग ऑक्सिजन के मिल जाने पर जल बनता है।

महात्मा ने शान्त स्वर में कहा, आपने जल के जिस रूप को बताया है, वह ठीक है किन्तु इसके अतिरिक्त जल के दो रूप और हैं—1. आधिदैविक, 2. आध्यात्मिक। तुम जब जल के इस सूक्ष्म रूप को जान लोगे तब देखोगे कि गङ्गा जल केवल हाइड्रोजन-ऑक्सिजन नहीं है, उसके अन्दर चिन्मयी माँ है। उस चिन्मयी माँ के दर्शन करते ही तुम्हारे हृदय में गङ्गा-भक्ति का स्रोत उमड़ पड़ेगा।

महात्मा के साथ ही होने के कारण मैं उक्त वार्त्तालाप सुन रहा था। महात्मा भी ऐरे गैरे पचकल्यानी नहीं थे, वह सिद्धाश्रम (हिमालय) के महासिद्ध थे। महात्मा की अन्तिम बात सुनते ही कर्नल के चेहरे के भाव बदलने लगे, वह निस्तब्ध, निष्काम खड़ा होकर गङ्गा जी की ओर (देख रहा था) दो तीन मिनट बाद महात्मा उससे, बोले, कर्नल, माँ को प्रणाम करो? यह सुनते ही यूनीफॉर्म स्टार्स की परवाह न कर कर्नल साष्टांग दण्डवत् करते हुए किनारे में लेट गया, वह बहुत देर तक लेटा रहा, उठा तो महात्मा के चरणस्पर्श करने के लिए झुका तो उन्होंने निषेध कर दिया और यह कहकर चल पड़े कि कल इसी कुम्भ क्षेत्र में तुम्हें गुरु के दर्शन होंगे, उन्हें प्रणाम कर उनसे दीक्षा ग्रहण करना।'

पदार्थों के आधिदैविक और आध्यात्मिक रूप देखने के लिए ग्रन्थ, शास्त्र या लेबोरेटरी सहायक नहीं होती हैं। यह ज्ञानयोग से ही प्राप्त किया जाता है। इसके लिए पहली आवश्यकता है सद्गुरु की शरण में जाना, उनकी सेवा में रहकर उनके द्वारा बताये गये मार्ग पर साधनारत रहना। क्रियायोग से हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, संशय, विपर्यय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, <ॐ> आनन्दमय <ॐ> शान्तिमय की की सहज अनुभूति होने लगती है।

ज्ञान और भक्ति का मूल है, क्रियायोग। क्रियायोग की साधना विषय-कामना को निष्क्रिय बना देती है। भगवान् के साथ अथवा इष्टदेवता के साथ संयुक्त करा देने वाला योगाभ्यास क्रियायोग है।

□

परिशिष्ट

प्राण-विनिमय और सम्मोहन क्रिया-योग

योगशास्त्र का कथन है कि प्राण ही शरीर का जीवभूत आधार है। प्राण में विकार उत्पन्न होने से ही शरीर में विविध रोग, दोष, आधि-व्याधि उत्पन्न हुआ करती है। प्राण की शुद्धता ही शक्ति, स्फूर्ति और आरोग्य का आधार है। अथर्ववेद में प्राण विद्या का बहुत विस्तृत विवेचन हुआ है। चारों वेदों, सभी उपनिषदों और आरण्यक तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राण की महिमा का गान गाया गया है। शतपथ ब्राह्मण (4।4।1।15) का कहना है कि प्राण ही सब देवों में ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और वरिष्ठ है। प्राण के स्थित रहने पर अन्य सब देव (इन्द्रियाँ) इस ब्रह्मपुरी (शरीर) में निवास करते हैं। प्राण ही शरीर रूपी नौका का प्रतिष्ठान है—

प्राणो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठानः

अथर्ववेदक के प्राणसूक्त (11/5) में विविध प्रकार से प्राण की महिमा का यशोगान किया गया है। अथर्ववेद (7/53) में प्राण और अपान को देवताओं का वैद्य 'अविश्द्वय' कहा गया है और उनसे प्रार्थना की गई है कि हे अश्विनी कुमारो, मृत्यु से हमको दूर करो? तुम देवों (इन्द्रियों) के भिषक् (वैद्य) हो।

हे प्राण और अपान, तुम इस शरीर को मत छोड़ो? तुम दोनों सायुज (संयुक्त सखा) बनकर यहीं बसो? जिससे यह मनुष्य शतायु हो।

अथर्ववेद से ज्ञात है कि प्राचीन ऋषिगण, सिद्धगण सोमपान, मधुपान तथा दुग्धपान करके ब्रह्मवर्चस् तथा अमृतत्त्व की प्राप्ति करते थे। वे प्राणविद्या की सतत उपासना में निरत रहते थे। सनातन योग विद्या (क्रिया-योग) का ही दूसरा नाम प्राणविद्या है। प्राण के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करना ही 'योगसम्प्राप्ति' है। प्राणों के संयमन-नियमन द्वारा दीर्घायुष्य प्राप्त करने की विधि को अथर्ववेद 'दैवी चिकित्सा' कहता है। प्राण और अपान इन दो अश्विनी

कुमारों को रोक रखने से दीर्घायुष्य, सुस्वास्थ्य और पुनः यौवन प्राप्त किया जा सकता है।

पुराणों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक कथा है, जिसका सारांश है कि वृद्ध च्यवन ऋषि ने अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की कि वह उपचारों द्वारा उन्हें जवान बना दें। यह सुनकर अविश्वनीकुमारों ने च्यवन ऋषि के सामने यह शर्त रखी कि तुम हमें यदि यज्ञ में सोमपान कराओ तो हम तुम्हें पुनः यौवन दे सकते हैं।

इस प्रतीक-कथा का तात्पर्य यह है कि—अश्विनीकुमार प्राण और अपान है। शरीर के अन्दर जो प्राणशक्ति रहती है, उसी का प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य पर पड़ता है। प्राणोत्पादिनी जीवनी शक्ति ही सब कुछ है। यह शक्ति बचपन और जवानी में वर्धिष्णु रहती है और बुढ़ापे में क्षयिष्णु रहती है। इस शक्ति के क्षीण होने पर मृत्यु आ घेरती है। वृद्धावस्था की क्षीणता का प्रभाव शरीरगत धातु, रस, स्नायु और मज्जा सभी पर पड़ता है। सारी कोशिकाएँ क्षीण होने लगती है। इस क्षयशील स्थिति का नाम च्वयन है।

और शरीर के अन्दर जो ओजस्, रेतस्, वीर्य और रस है, उसका नाम सोम है। यह सोमरस शरीर के अन्दर सुषुम्ना जाल या मेरुदण्डरूप वाचस्पत्ययूप रहता है, उसी में भरा रहता है। यह सोमरस मस्तिष्क में भी भरा रहता है, जो अधोभाग स्थित सुषुम्ना नाड़ी की शाखाओं, प्रशाखाओं को सींचता है। इस सोमरस से ही मस्तिष्क चेतनाशील बना रहता है। मस्तिष्क को सींचता हुआ यह सोमरस उसे विवेकी, विशुद्ध और शक्तिशाली बनाता है। यह सोमरस वीर्य के रूप में संचित रहता है। जब मनुष्य संयम नहीं बरतता तो यह शरीर से बाहर निकलकर नष्ट हो जाता है। जब तक प्राण और अपान रूप अश्विद्वय इस सोम को पीते रहते हैं, तब तक शरीर बूढ़ा नहीं होता है।

प्राण विनिमय द्वारा शुद्ध प्राण का संचार

प्राण विनिमय से विकृत प्राण को दूर करके शुद्ध प्राण का संचार किया जाता है। जिस मनुष्य का मन पवित्र हो, शरीर स्वस्थ हो, वह दूसरों में प्राण संचार कर सकता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि किसी मलिन शरीर और अपवित्र विचार रखनेवाले मनुष्य के स्पर्श से अपने प्राण की विशुद्धता

नष्ट होती है। इसीलिए ऐसे लोगों के स्पर्श करने पर हिन्दू धर्म में स्नान करने का विधान है। जड़ और चेतन सब पदार्थों में से प्राण की छाया निरन्तर निकला करती है। इसीलिए दूसरों के पहने हुए वस्त्र, उपयोग में लाई गई वस्तुएँ, उच्छिष्ट भोजन, अन्न, जल आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। हिन्दू धर्म में स्पृश्यास्पृश्य विवेक, भक्ष्याभक्ष्य विचार इसी सिद्धान्त पर अवलम्बित है। सुप्रसिद्ध देशभक्त, भारतमाता मन्दिर के निर्माता, काशी विद्यापीठ के संस्थापक स्व. बाबू शिवप्रसाद गुप्त का यह नियम था कि उनके यहाँ जो पत्र-पत्रिकाएँ, समाचार-पत्र आदि आते थे और भूल से कोई आदमी उन्हें पढ़ लेता था, तो फिर वह उस पत्र को उच्छिष्ट कहकर अलग कर देते थे, पढ़ते नहीं थे।

योगशास्त्र, स्वरशास्त्र और तन्त्रशास्त्र में प्राणविनिमय का वैज्ञानिक विवेचन मिलता है। इनके अध्ययन से और योगियों के प्रत्यक्ष अनुभव से यह सिद्ध है कि मनुष्य के शरीर से एक शक्तिशाली विद्युत्प्रवाह निकला करता है। हर मनुष्य या हर प्राणी की विद्युत्शक्ति दूसरे मनुष्य या दूसरे प्राणी से भिन्न हुआ करती है। मनुष्य के शरीर से निकलने वाला विद्युत्प्रवाह हर समय बहने वाला एक प्रकार का पदार्थ है, और यह शक्ति एक प्राणी के शरीर से निकलकर दूसरे प्राणी के शरीर में प्रविष्ट हो जाती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर आथर्वण चिकित्सा में हस्ताभिमर्श, मार्जन किया जाता है। रोगी के शरीर में दोनों हाथों की अँगुलियाँ ऊपर से नीचे फेंकते हुए यह मन्त्र पढ़ा जाता है—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वावाचापुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि॥

दोनों हाथों और दशों अँगुलियों से रोगी के सर्वाङ्ग शरीर को स्पर्श करते हुए जब यह मन्त्र पढ़ा जाता है तो रोगी के शरीर के अन्दर सनसनाहट पैदा होती है, रोमांच होता है, कम्पन होने लगता है रोगी ठीक हो जाता है।

इस क्रिया से शरीर के असाध्य से असाध्य हर प्रकार के रोग दूर किए जा सकते हैं और यदि कोई मानसिक विकार, मस्तिष्क विकार से ग्रस्त हो

तो उसे आदेश क्रिया द्वारा स्वस्थ किया जाता है। रोगी को सामने बैठाकर या लिटाकर अथवा खड़ा करके उसकी दृष्टि से दृष्टि जमाकर यह मन्त्र पढ़ा जाता है।

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद् आवर्तयामसि मयि वो रमतां मनः॥

हर प्रकार के रोग, दोष, पाप, शाप, तप, बाधाएँ दूर करने की एक और प्राण विनिमय क्रिया अथर्ववेद में है वह है सङ्कल्प-क्रिया। इसमें मन्त्र नहीं पढ़ा जाता। रोगी को सामने बैठाकर अपने मन को सङ्कल्प-निष्ठ बनाकर उससे बात की जाती है, उसे सुझाव दिया जाता है, उसके स्थूल मन को निश्चेष्ट कर अब चेतना को जाग्रत किया जाता है, उस समय रोगी भूत, भविष्य, वर्तमान की जो बातें पूछी जाएँ तुरन्त बतलाता है।

अथर्ववेद, योगशास्त्र, तन्त्रशास्त्र की यह प्राण विनिमय क्रिया जाकर मेस्मेरेज्मि कहलाती है। अनेक रोगियों पर अनुभव करने के बाद पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी यह स्वीकार किया है कि हर मनुष्य या प्राणी के शरीर से विद्युत्प्रवाह निकलता है। जो व्यक्ति जितना अधिक संयमी, तपस्वी, शक्ति सम्पन्न होगा, उतना ही अधिक विद्युत्प्रवाह उसके शरीर से निकलता है। यह प्रवाह हाथों की अँगुलियों के अग्रभाग से और नेत्रों के छोर से विशेष रूप से निकलता है। इसीलिए मेस्मेरिज्म में वेधक-दृष्टि और हस्त संचालन पर विशेष जोर दिया है। लौह चुम्बक, क्रिस्टल, फूल, मनुष्य के हाथ और चेहरे से जो विद्युत्प्रवाह निकलता है, उसे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक 'ऑडिलिक फोर्स' कहते हैं। वस्तुतः स्वप्निल अवस्था में अन्तर्मन ही सब कुछ करता है।

प्राणविनिमय की अवस्थाएँ

प्राणविनिमय (मेस्मेरिज्म) की छह अवस्थाएँ होती हैं—1. तन्द्रा, 2. निद्रा, 3. प्रगाढ़ सुषुप्ति, 4. अनुवृत्ति, 5. दिव्यदृष्टि, 6. प्रत्यग्दृष्टि (अन्तर्दृष्टि)।

ये अवस्थाएँ पात्र के चरित्र और हृदय की पवित्रता से प्रभावित हुआ करती हैं। साधारण पात्र निद्रा और प्रगाढ़ सुषुप्ति तक ही प्रभावित होते हैं। यदि कोई पात्र शुद्ध, सात्त्विक आचरण वाला होता है तो वह अनुवृत्ति और

दिव्यदृष्टि तक की अवस्था में पहुँच जाता है, किन्तु अन्तर्दृष्टि अवस्था तक कोई पहुँच सका है—ऐसा मैंने न देखा है न सुना है। वस्तुतः दिव्यदृष्टि और अन्तर्दृष्टि अवस्था समाधि की अवस्था है। इस अवस्था तक पहुँच कर पात्र भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल की तथा तीनों लोकों की बातों का उत्तर दे सकता है। कारण यह है कि जब पात्र इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो उसके मन का शरीर से सम्बन्ध नहीं रह जाता। यदि कोई व्यक्ति किसी माध्यम (पात्र) के बजाय स्वयं अपने ऊपर प्राण विनिमय क्रिया का प्रयोग करे तो वह समाधि अवस्था में पहुँचकर आत्म साक्षात्कार कर लेता है।

प्रयोगकर्त्ता के गुण

प्राण विनिमय और सम्मोहन क्रिया को करने के लिए प्रयोग कर्त्ता को निम्नांकित गुण अर्जित करने चाहिए।

1. आत्मविश्वास
2. दृढ़ संकल्प
3. परमार्थबुद्धि
4. बेधक दृष्टि
5. स्वस्थ शरीर
6. धैर्य और साहस
7. शुद्ध सात्त्विक, आहार-विहार
8. शान्त चित्तता

बेधक दृष्टि या आकर्षण शक्ति बढ़ाने के लिए रात में अथवा दिन में प्रातःकाल एकान्त कमरे में दीप ज्योति या शिवलिंग अथवा शालग्राम पर ध्यान और नासिकाग्र पर अथवा दोनों भौहों के मध्य त्राटक करना चाहिए। यह ध्यान रखा जाए कि यदि नेत्र विकार हो तो दीप-ज्योति पर कभी भी दृष्टि स्थिर नहीं करनी चाहिए अन्यथा अन्धे हो जाने का भय रहता है। शिवलिंग या शालग्राम में दृष्टि स्थिर करने से नेत्र ज्योति बढ़ती है। जिस पर दृष्टि स्थिर करनी हो वह दो फुट से अधिक दूर न हो।

सम्मोहन शक्ति का मुख्य स्थान—इस शक्ति का केन्द्र मनुष्य का सिर है, जो मस्तिष्क और ज्ञानेन्द्रियों का स्थान है। इसलिए इसकी किरणें

मनुष्य के चेहरे आँख, मुँह, नाक और मस्तिष्क द्वारा निकलती रहती हैं। चेहरे के अतिरिक्त हाथों और अंगुलियों से भी इसकी किरणें निकलती रहती है, इसीलिए जीवन के अधिकांश कार्य हाथों से ही किए जाते हैं। किरणों के रूप में हाथों, अंगुलियों और चेहरे से जो किरणें निकलती रहती हैं, उसे योग की भाषा में 'तेजस' कहा गया है और अंग्रेजी में AURORA तथा फारसी में जलाल या नूर कहते हैं। योगाचार्यों ने इसी को प्राणतत्त्व और विद्युत्प्रवाह भी कहा है।

सम्मोहन शक्ति के संवर्द्धन के नियम

1. प्रयोगकर्त्ता का स्वस्थ और नीरोग रहना।
2. ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करना।
3. बिना आवश्यकता शारीरिक, मानसिक शक्ति को व्यय न करना।
4. कर्त्तव्य पथ पर दृढ़ रहना।
5. आत्मविश्वास, संकल्प बल, श्रद्धा, निर्भयता, धैर्य, शुभ विचार, परमार्थ बुद्धि, प्राणिमात्र के लिए शुभ चिन्तन, ध्यानाभ्यास आदि सम्मोहन शक्ति के विकास के नियम है।

सम्मोहन शक्ति के ह्रास के कारण

1. शरीर तथा मन से अस्वस्थ रहना।
2. ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लंघन करना।
3. अर्जित शक्ति का अपव्यय करना।
4. संशयग्रस्त रहना।
5. भय, निरुत्साह, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, चित्त की चंचलता, दुविधा ये सब सम्मोहन शक्ति के ह्रास के कारण हैं।

आकर्षणशक्ति बढ़ाने के साधन

1. योगसूत्र के के समाधि पाद के 34 से 39वें तक के सूत्रों में बतला हुए किसी साधन द्वारा मन को एकाग्र करना। (ये साधन पिछले पाद में लिखे जा चुके हैं।)

2. शरीर की आन्तरिक क्रियाओं तथा रक्तवाहिनी नाड़ियों को वश में करने के साधनों का अभ्यास करना।

विधि

1. शुद्ध, एकान्त स्थान में सुखासन से बैठकर मन को एकाग्र करके एक हाथ को खोलकर सीधा रखे। एक से दस तक गिनते हुए अंगुली को बन्द करके अन्य चारों अंगुलियों को खुला रखे। फिर एक से दस तक गिनती गिनते हुए दूसरी अंगुली भी बन्द कर दे और अन्य तीनों खुली रखे। इस प्रकार क्रम से एक से दस तक की गिनती गिनते हुए पाँचों अंगुलियों को बन्द कर ले। इसी प्रकार दूसरे हाथ की अंगुलियों को भी बन्द करे, तत्पश्चात् एक से दस तक गिनती गिनकर पहले हाथ की पहली अंगुली को खोले, अन्य अंगुलियों को बन्द रखे। इस प्रकार पहले हाथ की पाँचों अंगुलियों को एक से दस तक की गिनती गिनते हुए क्रम से खोले। तदनन्तर दूसरे हाथ की अँगुलियों को इसी विधि से बन्द करने, खोलने की क्रिया का अभ्यास करे।

2. एक छोटी सी लड़की की चौकी पर दहाना हाथ कलाई सहित रखकर हाथ को बिल्कुल ढीला छोड़ दे। मन को एकाग्रकर संकल्प पूर्वक यह भावना करे कि रक्त का प्रवाह बड़ी तेजी से हाथ की ओर आ रहा है, जिससे हाथ और अँगुलियों की नसें लाल रंग की होकर फूल रही है। यह भावना करने पर जब ऐसा होने लगे तब दूसरी यह भावना करे कि हाथ और अंगुलियों पर से खून अपने-अपने स्थान पर आ रहा है। हाथ और अँगुलियाँ अपनी-अपनी साधारण हालत पर आ गई है। इस प्रकार अब हाथों में इच्छानुसार खून चढ़ाने और उतारने का अभ्यास हो जाए तब मार्जन (PASSES) द्वारा इस विद्युत को जिसे सम्मोहित करना हो अथवा जिस रोगी को रोगमुक्त करना हो उसके रुग्ण स्थान पर भरकर उसे आरोग्य बनाया जाए।

मार्जन का अभ्यास

हाथ की दोनों हथेलियों को जोर से रगड़ें जब तक कि गर्म न हो जाएँ। फिर दोनों हाथों को आगे-पीछे खूब हिलाएँ और हाथों की अंगुलियों को खूब जोर से खोलें और बन्द करें। इसके बाद रुई के तकिए पर मनुष्य की कल्पना करके उसके सिर से पैर तक धीरे-धीरे अपने हाथों को ले जाएँ, अन्त में झटका दें। थोड़े ही समय बाद अँगुलियों में सनसनाहट होने लगेगी और अंगुलियों से विद्युत का रूक्ष प्रवाह प्रवाहित होने का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा।

आकर्षण शक्ति का प्रयोग—जिस प्रकार प्रयोगकर्त्ता (Hypnotist) के लिए दृढ़संकल्प, आत्मविश्वास पात्र (जिस पर सम्मोहन किया जाता है) के शुभ कामनाओं की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार पात्र की भी प्रयोगकर्त्ता के प्रति पूरी श्रद्धा विश्वास और उसके आदेशों का ग्रहण करने की अत्यन्त आवश्यकता है। पात्र की इच्छा अथवा क्रिया में पूरी श्रद्धा होने से प्रयोग विफल हो जाता है।

प्रयोगविधि—किसी को अनिष्ट से बचने के लिए या बुरी आदतें छुड़ाने के लिए अथवा रोग-दोष दूर करने के लिए प्रयोगकर्त्ता अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करे—रोगी को आराम से लिटाकर सम्मोहन निद्रा (कृत्रिम निद्रा) में सुला देना चाहिए उसके सो जाने पर उसका नाम लेकर प्रयोगकर्त्ता इस प्रकार उससे कहे—

मैं तुम्हारे रोग-दोष, अथवा बुरी आदतें तुम्हारे अन्दर से निकालता हूँ, तुम इस निकृष्ट प्रकृति को छोड़ दो, सदा सर्वदा के लिए परित्याग कर दो। मैंने उसे तुम्हारे अन्दर से बिल्कुल निकाल दिया है।

और जब इष्ट प्रकृति का प्रवेश कराना हो तो उसका नाम लेकर प्रयोगकर्त्ता उससे यह कहे—मैं तुम्हारे अन्दर इस दृष्ट प्रकृति को स्थापित करता हूँ। इस प्रकृति को मैंने तुम्हारे अन्दर दृढ़कर दिया है अब तुम इस प्रवृत्ति के अनुसार ही काम करोगे?

इस प्रकार के वाक्य दस-पन्द्रह मिनट तक दुहराने चाहिए। यदि पात्र सिर में भारीपन का अनुभव करे तो उसके सिर पर दाहिना हाथ रखकर उसके नेत्रों में कुछ दूरी से फूँक मारे और फूँक मारते हुए यह कहे—मैंने तुम्हें एकदम नीरोग कर दिया है, तुम अब बिल्कुल अच्छे हो, तुम्हारे सिर में भारीपन नहीं है। इस प्रकार का प्रयोग सुबह-शाम और रात में एकान्त में करना चाहिए।

सूचनाएँ या आदेश—सम्मोहन शक्ति का प्रयोग करने में सूचनाएँ प्रमुख होती हैं, चाहे प्रयोगकर्त्ता पात्र पर त्राटक का प्रयोग करे या मार्जन करे अथवा फूँक मारे किन्तु सूचनाएँ पूरे आत्म विश्वास से प्रभावशाली शब्दों में देनी चाहिए।

प्रयोगकर्त्ता को पहले यह देख लेना चाहिए कि जिस पात्र पर यह प्रयोग करने जा रहा है उसका उसमें कैसा सम्बन्ध है। यदि पात्र प्रयोग कर्त्ता से उच्च

पदस्थ है, महान् विद्वान या श्रद्धेय है। गुरु या पिता है तो उसके प्रति सूचनाएँ प्रार्थना रूप में करनी चाहिए। जैसे—आप तो महान् आत्मा हैं, आपके शरीर में, मन में कोई विकार नहीं होना चाहि। आप अपने शरीर से सब विकारों को निकाल दीजिए। मेरी आपसे यह विनीत प्रार्थना है। मेरी प्रार्थना अवश्य स्वीकार करें। आपने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। अपने शरीर से आपने सब विकारों को निकाल दिया है। अब आप बिल्कुल स्वस्थ है। आपका शरीर निर्विकार हो गया।

इस प्रकार की मानसिक प्रार्थना त्राटक के प्रयोग में अधिक प्रभावशाली होती है।

क्रियायोग में मन्त्रों के साथ सूचनाएँ दी जाती हैं। इस प्रकार के मन्त्र अथर्ववेद में भिन्न-भिन्न प्रयोगों के लिए भिन्न-भिन्न हैं। जो अथर्ववेद के मन्त्रों के प्रयोग करने में असमर्थ हों उन्हें गायत्री मन्त्र को पढ़ना चाहिए। यह भी कठिन हो तो केवल <ॐ> मन्त्र का जप करना चाहिए।

मार्जन क्रिया के प्रयोग की विधि—पात्र के शरीर में हाथ फेरकर अपनी शक्ति को हाथ और अँगुलियों द्वारा पात्र के शरीर में प्रवेश करने की क्रिया को मार्जन क्रिया कहते हैं। अंग्रेजी में इसे 'पास' कहते हैं।

मार्जन दो प्रकार के होते हैं—1. लम्बे मार्जन 2. छोटे मार्जन।

1. सिर से लेकर पैर तक पात्र के शरीर में जो मार्जन किए जाते हैं उन्हें लम्बे मार्जन कहते हैं।

शरीर के किसी अंग विशेष पर जो मार्जन किए जाते हैं, वे छोटे मार्जन कहलाते हैं।

शरीर के किसी अंग विशेष पर जो मार्जन किए जाते हैं, वे छोटे मार्जन कहलाते हैं।

मार्जन करने की विधि

1. यदि पात्र स्त्री हो तो उसके बायीं ओर और पुरुष के दाहिनी ओर मार्जन करना चाहिए। मार्जन करते समय पात्र के शरीर से प्रयोगकर्त्ता का हाथ चार इंच दूर रहना चाहिए। दोनों हाथों की हथेलियों और अंगुलियों को मिलाकर तथा अँगूठे को दूर रखकर पीड़ित स्थान पर अंगुलियों को कुछ देर

रखकर धीरे-धीरे पैरों अथवा हाथ की अंगुलियों तक ले जाकर अंगुलियों को झटक देना चाहि। प्रयोगकर्त्ता मार्जन करते समय चित्त को एकाग्र, भावनाओं को शुद्ध और पूरे दृढ़ सङ्कल्प के साथ ऐसी भावना करे कि अँगुलियों द्वारा उसकी शक्ति (तेज) रोगी के पीड़ित स्थान पर प्रवाहित होकर पीड़ा को हटाती हुई स्वस्थ जीवन प्रदान कर रही है। प्रयोगकर्त्ता अपने हाथ की अँगुलियों को रोगी के पैरों अथवा हाथों की हथेलियों तक ले जाकर इस प्रकार से अपनी अँगुलियों को झटक दे कि रोगी के रोग और पीड़ा को निकाल कर बाहर फेंक दिया है। इस तरह कई बार मार्जन करे।

2. दूसरी विधि यह है कि मार्जन करते समय प्रयोगकर्त्ता सङ्कल्प और आत्मविश्वास पूर्वक यह कहता रहे कि तुम्हारा रोग दूर हो रहा है, तुम्हारी पीड़ा नष्ट हो रही है, देखो तुम्हारी पीड़ा पहले से बहुत कम हो गई है। अब तुम बिल्कुल नीरोग और स्वस्थ हो गए हो।

3. तीसरी विधि आथर्वण प्रयोग से सम्बन्ध रखती है। प्रयोगकर्त्ता, पात्र के शरीर में मार्जन करते हुए अथर्ववेद (4/13) का यह मन्त्र पढ़ता जाए।

उतदेवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीव यथा पुनः॥1॥
द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद्रपः॥2॥
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजं देवानां दूत ईयसे॥3॥
त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्॥4॥
आआ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परायक्ष्यं सुवामिते॥5॥
अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमदर्शनः॥6॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वावाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिभृशामसि॥7॥

4. चौथी मार्जन क्रिया तान्त्रिक विधि की है, रवि-पुष्प योग में उत्पाटित श्वेत अपामार्ग अथवा रणकी जड़ को लेकर प्रयोगकर्त्ता हाथ में लेकर अथवा पीड़ित स्थान पर स्पर्श कराते हुए यह मन्त्र पढ़े—

शूलेन पाहिनो देवि, पाहि खड्गेन चाम्बिके।
घण्टा स्वनेन नः पाहि चापज्या निःस्वनेन च।।
प्राच्यां रक्ष प्रतीच्यां च चण्डिकेरक्षदक्षिणे।
भ्रामणेनात्मशूलस्योत्तरस्यां तथेश्वरि।।
सौम्यानि यानि रूपाणि, त्रैलोक्य विचरन्ति ये।
यानि चात्यर्थ घोराणि तैःरक्षास्मान्स्तथाभुवम्।।
खड्गशूल गदादीनि यानि चास्त्राणि तेऽम्बिके।
करपल्लव सङ्गीनि तैरस्मान् रक्ष सर्वतः।।

5. **पाँचवीं विधि यह है**—रोगी को आराम कुर्सी पर या चारपाई पर अथवा चटाई बिछाकर लिटा दिया जाए। यदि बैठ सकता हो तो सुखासन से बैठा दिया जाए, फिर उपर्युक्त चौथी विधि का मन्त्र पढ़ते हुए सिर से पैर तक लम्बा मार्जन करे। 11 बार मार्जन करने से पीड़ा तत्काल दूर हो जाती है और रोग 11 दिन तक नित्य तीन बार मार्जन करने से जड़ मूल से चला जाता है।

6. छठी विधि त्राटक के प्रयोग की है। उपर्युक्त दृढ़ सङ्कल्प और आत्मविश्वास के साथ नीचे लिखे हुए मन्त्र को पढ़ते हुए रोगी के रुग्णस्थान पर अथवा उसकी आँखों से आँखें मिलाकर टकटकी बाँधकर देखता रहे—

अपेहि मनसस्पतेऽपक्रामपरश्चर।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीविता मनः।।

(अथर्व. 20/96/24)

7. सातवीं विधि यह है कि शुद्ध जल को चौथी विधि के मन्त्र से अभिमन्त्रित कर रोगी को पिला दिया जाये अथवा शुद्ध विभूति से मन्त्र पढ़ते हुए फूँक मारी जाए।

❐

दूरस्थ रोगी की चिकित्सा

क्रियायोग के अन्तर्गत यह प्रयोग श्रमसाध्य और अभ्यास साध्य है। जब ध्यान परिपक्व हो जाता है तभी यह प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रयोग की सरल विधि यह है—

जिस स्थान में साधना करनी हो वह पवित्र, एकान्त हो। वहाँ कोई आए, जाए नहीं। उस स्थान पर अपने इष्टदेव का अथवा अपने सद्गुरु या किसी महान् सिद्धयोगी का चित्र रखकर ध्यान में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। बड़ी कठिनाई से वह चित्र ध्यान में आता है। अभ्यास करते रहने पर पहले एक क्षण के लिए ध्यान में आएगा, फिर धीरे-धीरे बढ़ता जाएगा। जब आधा घण्टा तक ध्यान के आगे वह चित्र बना रहे तब दूरस्थ रोगी के चित्र को ध्यान में लाकर उपर्युक्त प्रयोगों से रोगों की निवृत्ति की जा सकती है।

सम्मोहन निद्रा द्वारा रोग-निवारण

पीछे बताया जा चुका है कि सम्मोहन की छह अवस्थाएँ होती हैं। रोगी को सम्मोहन निद्रा में लाकर पूर्वोक्त विधि से स्वास्थ और आरोग्यता सूचनाएँ देकर रोग और पीड़ाएँ दूर की जाती है।

सम्मोहन निद्रा में दो प्रकार के मार्जन (पास) किए जाते हैं—

1. विधान मार्जन—यह मार्जन रोगी के सिर से पैर तक सम्मोहन निद्रा लाने के लिए किया जाता है।

2. विसर्जन मार्जन—शरीर के नीचे पैरों से लेकर सिर तक यह मार्जन निद्रा उतारने के लिए किया जाता है।

सम्मोहन निद्रा लाने की कई विधियाँ हैं किन्तु साधारण रीति यह है कि पात्र को पहले समझा दिया जाए कि एक निश्चित समय तक कृत्रिम निद्रा में लाकर तुम्हारे रोग निकाल दिए जाएँगे। फिर उससे कहा जाए कि शरीर को ढीला करके लेट जाए। अङ्ग-प्रत्यङ्ग को ढीला करके नाक से गहरी साँस ले, तदन्तर प्रयोगकर्त्ता उसकी दोनों भौहों के बीच त्राटक करते हुए दृढ़ सङ्कल्प के साथ कृत्रिम निद्रा में लाने की सूचनाओं के साथ विधान मार्जन दे। दस-बारह विधान मार्जन देने से रोगी को जब सम्मोहन निद्रा आ जाए तब पूर्वोक्त विधि से सूचना देने के साथ लम्बे मार्जन देना शुरू करे। यह ध्यान रखा जाए कि रोगी को दी जाने वाली सूचना प्रभावशाली शब्दों में हो।

सम्मोहन क्रिया से सम्बन्धित अब तक जितने प्रयोग बताये गए हैं उन सबके मूल में संकल्प शक्ति निहित है। बिना संकल्प शक्ति के कोई प्रयोग सफल नहीं हो सकता। संकल्प शक्ति ही मनुष्य जीवन को समुन्नत बनाती है क्योंकि संकल्पनायोऽयं पुरुषः अर्थात् मनुष्य का निर्माण संकल्प से ही हुआ है।

दृढ़ सङ्कल्प, आत्मशक्ति, धैर्य साहस और मन की एकाग्रता प्राप्त करने तथा बढ़ाने के लिए तैत्तरीय ब्राह्मण (3/10/8) के शिव सङ्कल्प की साधना नियमित करने से प्राणविनिमय और सम्मोहन क्रियायोग की सिद्धि मिलती है।

शिव सङ्कल्प

अग्नि में वाचि श्रितः। वाग्घृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।1।।
वायु में प्राणे श्रितः। प्राणो हृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।2।।
सूर्यो में चक्षुषि श्रितः। चक्षुर्हृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।3।।
चन्द्रमा मे मनसि श्रितः। मनो हृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।4।।
दिशो में श्रोत्रे श्रिताः। श्रोत्र छं हृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।5।।
आपो मे रेतसि श्रिताः। रेतः हृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।6।।
पृथिवी में शरीरे श्रिता। शरीर छं हृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।7।।
ओषधि वनस्पतयो मे लोमसु श्रिताः। लोमानि हृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।8।।
इन्द्रो मे बले श्रितः। बल छं हृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।9।।

पर्जन्यो मे मूर्ध्नि श्रितः। मूर्द्धा हृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।10।।
ईशानो मे मन्यौ श्रितः। मन्यु र्हृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।11।।
आत्मा मे आत्मभिश्रितः। आत्मा हृदये।
हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि।।12।।
पुनर्मे आत्मा पुनरायुरागात् पुनः प्राणः पुनराकृतमागात्।
वैश्वानरोरश्मिभिर्वावृधानः अन्तस्तिष्ठन्नमृतस्य गोपाः।।13।।

हमारे शरीर के भीतर और बाहर अपरिमेय दिव्यभूमा का अमृतसागर भरा हुआ है। विराट् शक्तियों का निवास हमारे शरीर में है। यह शरीर देवताओं की नगरी अयोध्या है—देवानांपूरयोध्या।

इसलिए आधि-व्याधि से शरीर को मुक्त रखने के लिए, मन और चित्त को एकाग्र और शान्त रखने के लिए, चेतना को जाग्रत कर दिव्यत्व प्राप्त करने के लिए संकल्प बल, आत्म बल प्राप्त करने के लिए शिव संकल्प की साधना करनी चाहिए।

❑

प्रकाशक

शुभम् प्रकाशन

153/ए, रानी मंडी, इलाहाबाद-211003

मो0 : 7499727739, 9935082550